श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का चौदहवां पुष्प

प्र ति ध्व नि

लेखक—

परमश्रद्धेय पण्डितप्रवर प्रसिद्धवक्ता
राजस्थानकेसरी श्री पुष्कर मुनि म० के सुशिष्य
देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न

सम्पादक—

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशक—

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
पदराड़ा (उदयपुर)

पुस्तक :
प्रतिध्वनि

लेखक :
देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

सम्पादक :
श्रीचंद सुराना 'सरस'

अर्थ सौजन्य :
नगराज चन्दनमल
३९, विट्ठलवाड़ी, बम्बई-२

प्रकाशक :
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
पदराड़ा जि० उदयपुर (राजस्थान)

प्रथम मुद्रण :
अगस्त १९७१

मुद्रक :
श्यामसुन्दर शर्मा
श्री प्रिंटर्स, राजा की मंडी
आगरा-२

मूल्य : ३)५० तीन रुपए पचास पैसे

समर्पण

जिनकी पवित्र प्रेरणा और पथ-प्रदर्शन से मेरी चिन्तन दिशाएं सदा आलोकित रही हैं। उन्हीं परमादरणीय परमश्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थान केसरी पंडितप्रवर श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी म०

के कर कमलों में

—देवेन्द्र मुनि

लेखक की कलम से

गंभीर विचारों को पढ़ते-पढ़ते जब कभी मन ऊब जाता है, तो कहानियाँ और जीवनचरित्र पढ़कर मन की सुस्ती दूर कर लेता हूँ, इसीप्रकार गंभीरविषयों पर लिखते-लिखते जब मस्तिष्क विश्राम चाहने लगता है तो कथा-कहानियाँ और सूक्तियाँ लिखने लग जाता हूं, इससे मस्तिष्क की थकान भी दूर हो जाती है, और नई स्फूर्ति से मन तरोताजा भी हो जाता है।

पिछले तीन-चार वर्षों में मैंने अनुभव किया कि कहानियाँ, जीवन-चरित्र वास्तव में ही मानसिक विश्राम के साथ-साथ कर्तव्य की नई स्फूर्ति और प्रेरणा जगाने में भी अद्वितीय सिद्ध हुई हैं। पाठक उन्हें चाव से पढ़ता है, और उनसे प्रकट होने वाली प्रेरणा के प्रति बड़े सीधे और प्रभावकारी ढंग से आकृष्ट होता है। जैसे गरिष्ट भोजन के साथ-साथ कुछ सुपाच्य और सुस्वाद भोजन भी आवश्यक होता है, वैसे ही गंभीर विषयों के अध्ययन के साथ-साथ कुछ हलका और रुचिकर अध्ययन भी आवश्यक होता है। मन की यह आवश्यकता कथा कहानियाँ आदि से पूरी हो जाती है।

इधर में छोटे-छोटे प्रेरक रूपक, कहानियाँ आदि की चार-पाँच पुस्तकें मैंने लिखी और वे प्रकाशित हुई। पाठकों ने उन्हें चाव से अपनाया, विद्वानों ने भी उन्हें सराहा और सामान्य

जिज्ञासुओं को भी वे रुचिकर लगीं। इससे मेरा उत्साह बढ़ता गया और कहानियाँ लिखता चला गया।

मेरे साहित्यसर्जन की मूल प्रेरणा श्रद्धेय गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी म० सा० का वरद आशीर्वाद ही रहा है। उनकी जीवंत प्रेरणाएँ यदि मुझे न मिल पातीं, तो संभव है मैं साहित्य जगत में आज भी क-ख से आगे नहीं बढ़ पाता। अतः यह जो कुछ ही बन पड़ा है, वह तो मैं अनन्य श्रद्धा के साथ उन्हीं का वरदान मानता हूँ।

मेरे साहित्यिक कार्यों में परमस्नेही श्रीचन्द जी सुराना 'सरस' का भी जो सहयोग रहा है, मैं उसे विस्तृत नहीं कर सकता। मेरी अनेक पुस्तकों का सुन्दर सम्पादन उन्होंने किया है और बड़े स्नेह के साथ। प्रस्तुत 'प्रतिध्वनि' में भी उनकी लेखिनी का रस-स्पर्श हुआ है और इससे कहानियों व रूपकों में कुछ वैशिष्ट्य आया है।

मेरे अन्य साहित्यिक सहयोगियों को भी मैं कैसे विस्मृत कर सकता हूँ ? मैं जो कुछ लिखता हूँ, पढ़ता हूं वह सब आखिर किसी सहयोग के बिना कैसे सम्भव हो पाता ? आशा है मेरे साहित्य के पाठक भी मुझे इसीप्रकार सहयोग कर साहित्य सर्जना के मेरे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

श्रीमेघजी थोभण जैनधर्मस्थानक
१७० कांदावाड़ी, बम्बई-४ —देवेन्द्र मुनि
आषाढ़ीपूर्णिमा सं २०२८

सम्पादकीय

श्री देवेन्द्र मुनि जी स्थानकवासी जैनसमाज की नई पीढ़ी के तरुण साहित्यकार हैं। उन्होंने साहित्य की अनेक विधाओं पर लिखा है, और जमकर लिखा है। वे अध्ययनशील हैं, अनुसंधित्सु है और उदार समीक्षक भी है, इसलिए उनकी कृतियों में, चाहे वह शोधनिबन्ध है, ऐतिहासिकचर्चा है, जीवनचरित्र है, विचारसूक्तियाँ है, या कहानी और रूपक हैं, प्रायः उनमें अध्ययन, अनुसंधान और चिंतन मनन की गहरी छाप मिलती है।

प्रस्तुत पुस्तक उनका एक कहानी संग्रह है, किन्तु यह सिर्फ कहानीसंग्रह न होकर एक विचार-ग्रन्थ भी है। इसमें प्रेरक विचार, अनुभूत सूक्त एवं महापुरुषों की उक्तियाँ भी हैं। जब मुझे सम्पादन के लिए यह पुस्तक मिली तो मैं इसकी कहानियाँ पढ़कर प्रफुल्ल हो उठा। प्रायः कहानियों में एक-न-एक जीवन-स्पर्शी प्रेरणा छिपी है, जीवन का कोई गहरा सत्य व्यक्त होता-सा लगता है, और लगता है कोई प्रज्ञा-पुरुष अपने ज्ञान-चक्षुओं से देखे हुए जीवन एवं जगत के रहस्य - रोमांच को अनुभव की वाणी में खोल कर रख रहा है।

कहानियों को भाव-भाषा आदि की दृष्टि से परिमार्जित करने के बाद इसके नामकरण का प्रश्न मेरे मन में आया तो मैं कुछ क्षण पुस्तक की कहानियों को ही उलट-पुलट कर पढ़ने लगा। पुस्तक

की तीसरी कहानी 'प्रतिध्वनि' सहसा ही मेरे मन को विभोर कर गई। मुझे लगा, संपूर्ण पुस्तक का सार इस एक कहानी में संक्षिप्त हो गया है, और पूरी कहानी 'प्रतिध्वनि' इन चार अक्षरों में बंध गई है।

सचमुच हमारा वाह्यजगत, भौतिक संसार हमारी अन्तरध्वनि की एक प्रतिध्वनि मात्र है। जैसी ध्वनि, जैसा चिंतन और जैसी भावनाएँ हमारे भीतरी संसार में उठती हैं वाह्य-संसार से वैसी ही प्रतिध्वनि गूंज उठती हैं, जैसा विम्व होगा दर्पण में वैसा ही प्रतिविम्व झलकेगा। जैसी हमारी अन्तरध्वनि होगी, संसार की इन घाटियों में वैसी ही प्रतिध्वनि गूंजेगी। इस पुस्तक की कहानियाँ ही क्या, किन्तु संसार की समस्त कहानियाँ और समस्त उपदेश आखिर प्रतिध्वनि के इसी सूत्र का भाष्य ही तो करते हैं। अतः इस पुस्तक का यह नाम मुझे वहुत ही सार्थक और अपने कथ्य को व्यक्त करनेवाला लगा।

पुस्तक में कुल ७३ कहानियाँ है, और प्रायः हर कहानी अपने कथ्य को काफी स्पष्टता से व्यक्त करती है। पाठक को मस्तिष्क पर कुछ भार दिये विना भी वह सहजगम्य हो जायेगा ऐसा मेरा विश्वास है।

आशा करता हूँ यह कहानी संग्रह पाठकों को रुचिकर, रस-प्रद और शिक्षाप्रद प्रतीत होगा।

जैन भवन
३० जुलाई, आगरा-२

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

प्रकाशकीय

अपने प्रबुद्ध पाठकों के कर-कमलों में विचारोत्तेजक रूपक तथा लघु कहानियों का संग्रह :—'प्रतिध्वनि' प्रदान करते हुए हमें अत्यन्त प्रसन्नता है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक हैं—स्थानकवासी समाज के उदीयमान तरुण-साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनि जी शास्त्री, साहित्यरत्न, और सम्पादक हैं—श्रीचन्द सुराना 'सरस'।

पुस्तक भाव, भाषा, शैली आदि सभी दृष्टियों से नूतनता लिए हुए है। कहानी साहित्य में यह एक नवीन शैली है। कथाओं के पूर्व विश्वविश्रुत विचारकों के चिन्तनसूत्र दिये गये हैं, जो हृदय को विद्युत की तरह स्पर्श करते हैं। 'खिलती कलियाँ मुस्कराते फूल' के पश्चात् उसी शैली में यह दूसरी पुस्तक है।

इस पुस्तक के प्रकाशन का सम्पूर्ण अर्थसहयोग दानवीर स्वर्गीय श्रीमान् सेठ हस्तीमल जी मेहता की धर्मपत्नी, धर्मानुरागिणी शान्ताबाई की आज्ञा से उनके सुपुत्र श्रीमान् चन्दनमल जी मेहता ने प्रदान किया है, एतदर्थ हम उनके हृदय से आभारी हैं। हमें आशा ही नहीं, अपितु दृढ़ विश्वास है कि उनका उदार सहयोग हमें समय-समय पर मिलता रहेगा।

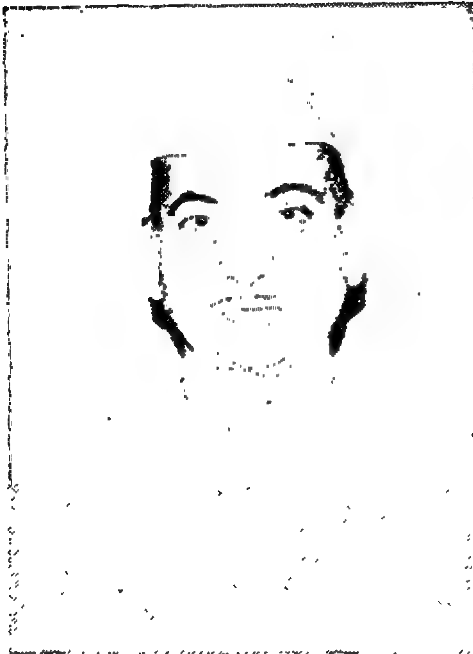
—शान्तिलाल जैन

मंत्री—तारक गुरु जैन ग्रन्थालय

स्वर्गीय श्रीमान् सेठ हस्तीमल जी मेहता : एक परिचय

शरद् पूर्णिमा के चाँद की तरह जो अपनी दुग्ध - धवल ज्योत्स्ना से जन-जन के मन को मुग्ध करता हो, उस लुभावने और सुहावने जीवन को कौन विस्मृत हो सकता है ? शायर के शब्दों में कहा जाय तो—

जिन्दगी ऐसी बना जिन्दा रहै दिलशाद तू ।
जब न हो दुनियाँ में तो, दुनिया को आये याद तू ॥



दानवीर धर्मप्रेमी उदारचेता
स्व० श्रीमान् सेठ हस्तीमलजी
सागरमलजी मेहता
सादड़ी (मारवाड़)

लम्बा कद, गौर वर्ण, भव्य ललाट, हँसते होठ, खिले लोचन शांत और तेजोद्दीप्त मुखमुद्रा, इन सभी ने मिलकर ऐसे व्यक्तित्व का निर्माण किया था जिसे लोग दानवीर सेठ हस्तीमल जी मेहता के नाम से पहचानते थे। जितना उनका वाह्य व्यक्तित्व आकर्षक था, उतना ही उनका आन्तरिक जीवन भी मन-मोहक था। वे प्रकृति से सरल, स्वभाव से कोमल, और हृदय से उदार थे। वे केवल गरजनेवाले मेघ ही नहीं, बरसनेवाले मेघ थे और जब बरसते थे तो जमकर बरसते थे।उन्होंने अपनी छोटी उम्र में अत्यधिक उदारता के साथ दानदिया था। अनाथ, विधवाएँ और गरीब छात्रों को उन्होंने गुप्तरूप से सहायताएं दी थीं। कब ? किसे ? कितनी सहायता दी, उसका पता उनके अतिरिक्त घर के किसी सदस्य को नहीं होता था। वे उसे दान नहीं, किन्तु अपना कर्तव्य समझते थे। किसी भी प्राणी को कष्ट में देखकर उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता था।

उनका जन्म राजस्थान की वीरभूमि अरावली पहाड़ की तलहटी में बसे हुए सादड़ी (मारवाड़) में हुआ,। जहाँ पर स्थानकवासी मुनियों का विराट् साधु सम्मेलन सन् १९५२ में हुआ और श्रमणसंघ का निर्माण हुआ। आपके पूज्य पिता श्री का नाम सेठ सागरमल जी था और मातेश्वरी का नाम राधावाई था। आपके ज्येष्ठ भ्राता का नाम पुखराज जी है। जो पूना (महाराष्ट्र) के लब्ध प्रतिष्ठित व्यापारियों में से हैं।

सादड़ीनिवासी वालचन्दजी तलेसरा की सुपुत्री धर्मानुरागिणी शान्तावाई के साथ आपका विवाह सम्पन्न हुआ। आपके पाँच

पुत्र हैं। १. चन्दनमलजी २. चम्पालालजी ३. मोहनलालजी ४. दिलीपकुमार और ५. महेन्द्रकुमार।

मैट्रिक का अध्ययन सम्पन्न कर आप सादड़ी से वम्वई आये, प्रारंभ में दूसरे के यहाँ पर नौकरी की। फिर सम्वत् २००१ में वम्वई विठलवाड़ी में 'नगराज चन्दनमल' के नाम से छतरियों की दुकान की। भाग्य और पुरुषार्थ ने साथ दिया, व्यापार चमक उठा। जिस प्रकार पैसा कमाते रहे, उसीप्रकार उदारता के साथ दान भी देते रहे। पूना में स्थानक वनाने के लिए २५ हजार रुपए दिये। अंधेरी और कांदीवली (वम्वई) में आपके नाम से स्थानक के विशाल हॉल हैं। सादड़ी (मारवाड) मोटर स्टेंड पर मुसाफिरखाना भी आपने वनाया है। जो भी सहयोग के लिए आपके पास आता, उसे आप प्रेमपूर्वक सहयोग देते। आप कोट (वम्वई) संघ के वर्षों तक मंत्री पद पर रहे।

आपका जन्म सन् १६१५ में हुआ था और ५२ वर्ष की लघु वय में १६ मार्च, १६६७ में आपका स्वर्गवास हुआ।

श्रीमान् हस्तीमल जी साहव की पुण्यस्मृति में उनकी धर्म-पत्नी श्रीमती शान्तावाई के आर्थिक सौजन्य से प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है।

पूज्य पिता की तरह ही श्रीमान् चन्दनमल जी आदि उनके सभी पुत्र धर्मनिष्ठ हैं। उनसे समाज को वहुत आशा है—वे सभी अपने पूज्य पिता की तरह यशस्वी वनें, यही मंगल कामना—

—राजेन्द्रकुमार मेहता, वम्वई

अनुक्रम



१

अप्पदीपो भव



भगवान महावीर का एक वचन है—

जे अणण्णदंसी से अणण्णारामे

—आचारांग सूत्र

जो अनन्यदर्शी अर्थात् आत्मा के सिवाय और किसी को नहीं देखता है, वह आत्मा के सिवाय अन्यत्र कहीं नहीं रमता।

यह सत्य है कि आत्मद्रष्टा आत्मा में ही रमता है, और बाह्यद्रष्टा बाहर में भटकता रहता है। बाहर में देखने वाले की आकांक्षाएं-धन, वैभव, सत्ता और यश पर मंडराती है, पर जब दृष्टि बाहर से मुड़कर भीतर को चली जाती है, तो अपने आप में सब कुछ पा लेती है। वह सचमुच में अप्पदीप-आत्मदीप—अपना दीपक स्वयं बन जाता है।

एक कम्बोडियन बौद्ध कथा है। कम्बोज के सम्राट् तिङ्-मिङ् की राजसभा में एक बौद्ध भिक्षु आया और सम्राट् से कहने लगा—महाराज! मैं त्रिपिटकाचार्य हूँ।

पन्द्रह वर्ष तक सारे वौद्ध जगत का तीर्थाटन कर मैंने धर्म के गूढ़ तत्त्वों का रहस्य प्राप्त किया है। मेरी भावना है कि कम्बोज का शासन भगवान तथागत के आदेशों के अनुसार चले, मैं राज्य का धर्म-गुरु वनना चाहता हूँ।'

धर्मज्ञ सम्राट् भिक्षु की कामना जान कर किंचित् मुस्कराये—"आपकी सदिच्छा मंगलमयी है, किन्तु अभी आप धर्मग्रन्थों का एकवार पुनः पारायण कीजिए।"

भिक्षुक का चेहरा क्रोध से लाल पड़ गया। पर क्रोध को भीतर ही दवाए वे वहाँ से लौट आये। सोचा—'सम्राट् को रुष्ट करने से क्या लाभ; एक वार सव-ग्रन्थों को पुनः पढ़ डालना चाहिए।'

भिक्षु एक वर्ष वाद पुनः सम्राट् की सभा में उपस्थित हुआ और वोला—"मैंने सव ग्रन्थ दुवारा पढ़ डाले हैं, अव राज्य-गुरु का पद मुझे मिलना चाहिए....।"

सम्राट् ने पुनः मुस्कराकर कहा—"भदन्त ! एक वार और पढ़ लीजिए।"

भिक्षु क्रोध में तमतमा उठा। यह क्या मजाक कर रहे हैं। पर वह चुपचाप लौटकर नदी के एक शांत तट पर चला गया। अपमान का दंश भीतर में पीड़ित कर रहा था। उसने शांति के लिए सांध्य प्रार्थना की और ग्रन्थ को लेकर वैठ गया। पढ़ते-पढ़ते उन्हीं ग्रन्थों के शब्द नयी-नयी अर्थ चेतना लेकर उसके अन्तर में जागने लगे, वह उन्हीं के रहस्यों में खो गया।

एक वर्ष बीत जाने पर भी वह सम्राट् की सभा में नहीं पहुँचा तो सम्राट् तिङ्-मिङ् स्वयं उसके चरणों में पहुँचे। देखा वह तो तन-मन की सुधि भूले बस अन्तर्ध्यान में लीन है। सम्राट् ने प्रार्थना की—"भगवन्! चलिये! धर्माचार्य का आसन सुशोभित कीजिये!"

भिक्षु की समस्त आकांक्षाएं समाप्त हो चुकी थी। उसने धर्मग्रन्थों के सच्चे रहस्य को पालिया था। मंद-स्मित के साथ बोला—'राजन्! सद्धर्म उपदेश का नहीं, आचरण का विषय है। उपदेश में निरा अहंकार है, आचरण में आनन्द है। अब मुझे किसी 'पर' की आकांक्षा नहीं। भगवान का एक ही वाक्य मेरे हृदय को प्रकाशित कर गया है—**अप्पदीपो भव** स्वयं अपने दीपक बनो।



२

स्वरूप भावना

•

संसार के दर्शन–ईश्वर के सम्बन्ध में आज भी उलझे हुए हैं। अनन्त-अनन्त काल से चिन्तन करता हुआ मानव मन ईश्वर के रूप और स्वरूप की घाटियों में आज भी भटक-भटक रहा है।

विश्व के ईश्वर-सम्बन्धी विचारों में प्रायः परोक्षानुभूति ही मुख्य है। और वह सब की स्वतंत्र या अनुकृत होती है। अबतक के विचारों का अनुशीलन करने पर चार विचार सूत्र मेरे समक्ष आ रहे हैं।

१. स्वामि-दास भावना
२. पिता-पुत्र भावना
३. सखा-भावना
४. स्वरूप-भावना

एक दार्शनिक ने एक बार ईश्वर के विरह से व्याकुल होकर एक ऊंचे पर्वत पर चढ़कर ईश्वर को पुकारा—

स्वामिन् ! मैं तेरा दास हूँ; मेरी इच्छाओं का तू ही स्वामी है, तू ही मेरे भाग्य का विधाता है, मुझे दर्शन दे, मैं तेरी आज्ञाओं का पालन करूंगा ।

ईश्वर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। दार्शनिक और चिन्तन करने लगा।

एक दिन फिर उसने उसी पर्वत पर चढ़ कर पुकारा—

हे परम पिता ! मैं तेरी सन्तान हूँ, तुमने ही मुझे पैदा किया है, मेरे पास जो कुछ है, तेरा देन है, मेरी प्रार्थना सुन और मुझे अपनी छवि दिखा !

ईवश्र तब भी मौन रहा। दार्शनिक पुनः ईश्वर की खोज में लीन हो गया और एकदिन फिर पहाड़ की चोटी पर चढ़ कर ईश्वर को सम्बोधित किया—"हे प्रभु ! मेरे मन में रात दिन तुम वसे हो, जैसे युवति के मन में उसका प्रेमी ! तुम ही सच्चे मित्र हो, तुम्ही सच्चे सखा हो, अब आओ ! और मेरी अन्तर पीड़ा को शांत करो।"

ईश्वर की ओर से कोई प्रतिध्वनि लौटकर नहीं आई। दार्शनिक तव भी विचलित नहीं हुआ और सोचता रहा।

एक दिन पुनः असीम साहस बटोर कर उसने गंभीर स्वर से आह्वान किया—"हे परमात्मा ! मैं वही आत्मा हूं, जो एक दिन परमात्मा बनेगा। मैं पृथ्वी पर पड़ा मूल हूं, तुम आकाश में खिले फूल हो। मैं और तुम दो नहीं,

एक ही रूप के दो स्वरूप हैं। मैं ही तू है, तू ही मैं हूं। अब मैं तुम्हें नहीं पुकारूंगा।"—और दार्शनिक ने अपने अन्तर को निहारा तो वहां परमात्मा खड़ा उसी को पुकार रहा था—

ब्रह्म तत् त्वमसि*—"वह ब्रह्म तू ही तो है""! जिसे पुकार रहा है।"



---

* विवेक चूडामणि २२५

३

प्रतिध्वनि



इस संसार में सर्वत्र प्रतिदान और प्रतिध्वनि का सिद्धान्त व्याप्त है। प्रेम देने वाले को प्रेम मिलता है, द्वेष बरसाने वाले को द्वेष! रावण और दुर्योधन ने संसार में युद्ध और घृणा-द्वेष के बीज डाले तो उन्हें मृत्यु, निंदा और विद्वेष के ही फल प्राप्त हुए, जबकि राम और धर्म-पुत्र को प्रेम और श्रद्धा की मालाएँ अर्पित की गईं, चूँकि उन्होंने प्रेम और स्नेह की फूलों की क्यारियां लगाई थीं!

अथर्ववेद का एक वचन है—**यश्चकार स निष्करत्**—(अथर्व २।६।५) जिसने जैसा किया, वैसा ही पाया। इस पर जैसे भाष्य करते हुए तथागत बुद्ध का एक वचन मुझे याद आ गया है।

हन्ता लभति हन्तारं जेतारं लभते जयं—(संयुत्त-निकाय १।३।१५) मारने वाले को मारने वाला और जीतने वाले को जीतने वाला मिल जाता है। वास्तव में

यही तो प्रतिदान, प्रतिछाया, या प्रतिध्वनि का सिद्धान्त है। जैसी आकृति होगी, दर्पण में वैसी ही प्रतिध्वनि दीखेगी। जैसी ध्वनि होगी, कूएं और पहाड़ियों में टकरा कर वैसी ही प्रतिध्वनि लौटेगी।

एक आश्रम था, पहाड़ियों की तलहटी में, नदी के किनारे प्राकृतिक सुषमा की गोद में। एक देश का राजकुमार वहाँ के आचार्य के पास अध्ययन करने को आया।

एक दिन संध्या के समय राजकुमार हवा खाने के लिए तलहटी में घूमता हुआ आगे पहाड़ी घाटी में चला गया। घाटी में वह बहुत आगे चला गया और संध्या का झुरमुटा होने लग गया। हवा के झौंके से पेड़-पत्तों की मर्मर ध्वनि हुई तो राजकुमार को लगा—पास की घाटी में कोई छिपा है। वह कुछ कदम पीछे लौटा तो उसे लगने लगा जैसे कोई छुपे-छुपे उसका पीछा कर रहा है। उसने इधर-उधर देखा और भय से भर्रायी आवाज में पुकारा—"कौन है?"

पहाड़ियों के अन्तराल से उतने ही जोर से प्रतिप्रश्न गूंज उठा "कौन है?"

अब तो राजकुमार सहम गया, भय से उसके हाथ-पैर काँपने लग गये। ठंडी हवा में भी सिर पर पसीने की बूंदें टपकने लग गई। अपने आप को ढाढ़स बंधाने के लिए उसने फिर जोर से पुकारा—'कायर! डरपोक! कहाँ छिपा है?'

वैसी ही भर्भराती आवाज गूंज उठी—"कायर ! डरपोक ! कहाँ छिपा है ?"

राजकुमार के पैर डगमगा उठे, छाती धड़कने लग गई, उसके हाथ में कोई शस्त्र भी नहीं था, और अब निश्चय हो गया कि अवश्य ही कोई उसकी जान लेने के लिए छिपा बैठा है। उसने छाती को हाथ से दबाया और एक बार साहस बटोर कर खूब जोर से चिल्लाया—"मैं मार डालूँगा।"

पहाड़ियों से प्रतिध्वनि गूंज उठी—'मैं मार डालूंगा।' राजकुमार पसीने से तरवतर हो गया, सिर पर पांव रखकर दौड़ा आश्रम की ओर। उसके पैरों की प्रतिध्वनि ही उसे लग रही थी, जैसे वह दुष्ट उसका पीछा कर रहा है, पर मुड़कर देखने की हिम्मत उसमें नहीं रही। वह हांफता-हांफता आश्रम के द्वार पर पहुंचा और मूर्च्छा खाकर गिर पड़ा।

आचार्य दौड़कर आये। राजकुमार का सिर गोदी में लेकर जल छिड़का। राजकुमार होश में आया तो उसने सब बात सुनाई।

मानव-मन के पारखी आचार्य ने मुक्तहास के साथ कहा—"वत्स ! तुम उससे कैसे डर गये ? वह तो बहुत ही भला आदमी है, किसी चींटी को भी कष्ट नहीं, देता, बच्चों से तो वह बहुत ही प्यार करता है। तुम कल फिर वहीं जाना और जैसा मैं कहूँ वैसा पुकारना।"

दूसरे दिन राजकुमार फिर उसी पहाड़ी घाटी में गया और आचार्य के कहे अनुसार आवाज लगाई—"मेरे मित्र ! इधर आओ !"

प्रतिध्वनि आई—"मेरे मित्र ! इधर आओ !"

इस मित्रता की पुकार से राजकुमार का मन आश्वस्त हो गया, उसने और जोर से कहा—"मैं तुम्हें प्रेम करता हूँ।"

पहाड़ियाँ और जंगल जैसे एक साथ पुकार उठे—"मैं तुम्हें प्रेम करता हूं।"

राजकुमार का हृदय सचमुच निर्भय हो गया। उसने हृदय की सच्चाई से पुकारा—"हम सब मित्र हैं।" अब तो जैसे पहाड़ों का चप्पा-चप्पा उसे पुकारता सुनाई पड़ा—"हम सब मित्र हैं।"

जीवन और जगत में सर्वत्र प्रतिध्वनि का यही सिद्धान्त लागू है। शत्रु को शत्रु और मित्र को मित्र की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है। "फूल को फूल और कांटे को कांटा।"



४

अपनी-अपनी कल्पना : अपना-अपना ईश्वर



ईश्वर क्या है ? और क्या करता है ? यह प्रश्न आज भी उतना ही विकट है जितना मानव के चिंतन काल की प्रथम वेला में था ! मानव की ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं और मान्यताओं पर विचार करने पर कभी कभी आश्चर्य होता है, कभी कभी हंसी आती है, और कभी-कभी खेद होता है ।

लगता है मानव के मन में जिस समय जैसा विचार-विम्ब वना उसने वैसा ही प्रतिविम्ब घड़ लिया ईश्वर के रूप में । जिसकी जैसी भावना रही, उसने वैसा ही भगवान तैयार कर लिया ।

देखिए : विभिन्न धर्म परम्पराओं के ईश्वर का रूप । ईश्वर का एक रूप है—पुरन्दर ! अर्थात् गाँवों को उजाड़ने वाला । एक रूप है बलिप्रिय–गाय, घोड़ा और मनुष्य

के रक्त-माँस की वलि चाहने वाला। एक रूप है—सर्व-शक्तिमान्—अर्थात् जैसा चाहे वैसा करने वाला—मनमोजी! अथवा जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धान्त-वादी। एक ईश्वर है–जो मनुष्यों के रत्ती-रत्ती भर पापों का हिसाब रखता है और उन्हें निर्दयता पूर्वक दण्ड भी देता है, वह न्यायाधीश है। एक रूप है—दयालु! जगत्पिता! वड़े मे वड़ा पापी भी भयकर जुल्म करके उसकी शरण में पहुँच गया तो वह उसे माफ कर देता है। एक ईश्वर मनुष्यों के दुःख और पीड़ाओं का नाश करने स्वयं अवतार धारण करता है, तो एक इस धरती पर स्वयं न आकर अपने दूत अथवा पुत्र को भेजकर ही वह काम करा देता है। एक ईश्वर है–जो कयामत के दिन सब मुर्दों को कब्र से बुलाकर उनके न्याय-अन्याय का फैसला करता है।"

ईश्वर की इन विचित्र एवं विभिन्न कल्पनाओं का मूल है—मानव मन की परिस्थितियाँ, कल्पनाएं और आवश्यकताएं। जिसे, जिस समय जिस शक्ति की अपेक्षा हुई, उसने ईश्वर के उसी रूप की कल्पना करली। संत तुलसी-दास जी के शब्दों में—

> जाकी रही भावना जैसी
> प्रभु मूरत देखी तिन तैसी!

एक अरबी लोक कथा है—

एक वार विल्लियों का एक झुंड एक ऊँचे पहाड़ की चोटी पर एकत्र हुआ। एक भारी भरकम भूरी विल्ली वड़े

ऊँचे स्वर में बोल रही थी–'बहनो ! बहुत दिनों से हम सब उपवास करके ईश्वर की आराधना में लगी हैं, आज सब मिल कर ईश्वर की प्रार्थना करो ! ईश्वर बड़ा कृपालु है, पूरी श्रद्धा के साथ की हुई हमारी प्रार्थना वह जरूर सुनेगा और सचमुच आकाश से चूहों की वर्षा होगी।'

उस झुंड के पास में ही एक मोटा ताजा कुत्ता घूम रहा था। बिल्लियों की बात सुनकर उसे हँसी आई और वह आकाश की ओर मुंह करके कहने लगा—'मूर्ख अन्धी बिल्लियो ! कभी तुम्हारे बाप-दादों ने भी प्रार्थना की थी और चूहों की वर्षा देखी थी ? किताबों में लिखा है, जब भी ईश्वर की पूजा होती है और प्रार्थनाएं की जाती हैं तब तब आसमान से चूहों की नहीं, हड्डियों की वर्षा होती है।'



५

भारतीय नारी का आदर्श

०

भारतीय नारी-आत्म-संयम एवं शालीनता की मूर्ति रही है। स्नेह एवं प्रेम की प्रतिमा होते हुए भी उसने सदा नीति एवं संयम की मर्यादा का पालन किया है। किसी पर हृदय निछावर करके भी उसने अपने धर्म एवं रीति-नीति की रक्षा की है। पति से पीड़ा एवं अपमान के विष घूंट पाकर भी वह क्षमा का अमृत वर्षाती रही है, क्षणिक आवेश में उसने प्रेम के पवित्र बंधन को नहीं तोड़ा। उसने जगत् के अपराधों को क्षमा कर सद्‌भाव एवं स्नेह की धारा बहायी है—देखिए भारतीय संस्कृति के तीन उज्ज्वल चरित्र।

१:—

हिमराज की पुत्री पार्वती ने शिवजी के लिए कठोर तपस्या की। उसकी तपस्या से प्रसन्न शिवजी पार्वती के निकट आये और स्नेह-गद्‌गद् होकर बोले—"आज से मैं तुम्हारा तपःक्रीत दास हूँ।"

पार्वती ने सकुचाते हुए कहा—"देव ! मेरा मनोरथ सफल हुआ ! मैं आपको अपना मन तो पहले ही दे चुकी हूँ किन्तु यह शरीर तो जन्म देने वाले का है, इसे उन्हीं (पिता) से दान स्वरूप प्राप्त कर उनका सम्मान बढ़ाइए—

मनस स्त्वं प्रभुः शम्भो ! दत्तं तच्च मया तव !
वपुषः पितरावेतौ सम्मानयितुमर्हसि ।

—स्कन्द पुराण

यह है एक उज्ज्वल आदर्श, जो मन के हाथ से निकल जाने पर भी कभी अनुचित आचरण करने की भूल नहीं करने देता !

२:—

तपोवन में शकुन्तला-दुष्यंत का प्रथम मिलन हुआ। दुष्यन्त प्रेमोन्मत्त होकर ऋषि कन्या को ग्रहण करना चाहते थे, वे उसे पाने उतावले हो उठे। शकुन्तला उठकर जाने लगी, तो प्रेम-विह्वल दुष्यंत ने रोकना चाहा। शकुन्तला ने नीची आँखें किए विनम्रता पूर्वक कहा—

पौरव ! रक्ख अविणअं ।
मअण संतत्तावि ण सु अत्तणो पहवामि ।

—अभिज्ञान शाकुन्तलम्

'हे पुरुवंशी ! शिष्टाचार की मर्यादा न तोड़ो ! यद्यपि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, परन्तु मैं स्वतंत्र नहीं हूँ, पिता कण्व की अनुमति पर ही हमारा मिलन हो सकता है।'

यह है, इच्छा पर, प्यार की बुभुक्षा पर संयम का, कुल मर्यादा का पवित्र अंकुश ! मन से चाहकर भी बिना पिता की अनुमति के किसी पुरुष का स्पर्श तक नहीं कर सकती वह !

३:—

और यह है एक आदर्श—जो अन्याय, अपमान से प्रताड़ित होकर भी पति के लिए कभी दुर्भाव से कलुषित नहीं हुई, उलटा अन्याय व कष्ट को अपने कर्म का दोष मानकर उसके पवित्र प्रेम की जन्म-जन्म में आकांक्षा करती रही।

राम की आज्ञा से लक्ष्मण जब सीता को वन में छोड़ कर लौटने लगे तो सगर्भा सीता की मनः स्थिति कितनी दयनीय और कितनी दुःखमय रही होगी ? अग्नि परीक्षा द्वारा शुद्ध प्रमाणित नारी को यों वन में छोड़ देना कितना बड़ा अन्याय था ? पर तब भी महासती सीता के मन में राम के प्रति कोई दुर्भाव पैदा नहीं हुआ। अपने सच्चे पतिप्रेम, एवं शील सौजन्य का परिचय देते हुए उसने लक्ष्मण के साथ राम को संदेश भेजा—

> साहं तपः सूर्य - निविष्टदृष्टि
>
> रूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
>
> भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि
>
> त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः।
>
> —रघुवंश १४।६६

'मैं प्रसूति कर्म से निवृत्त होने के बाद सूर्य बिम्ब के सामने एक टक आँख लगाकर ऐसी घोर तपस्या करूंगी, जिसके प्रभाव से अगले जन्म में मुझे पुनः तुम्हीं पति-रूप में प्राप्त होओ और इस जन्म की भाँति फिर तुमसे मेरा कभी भी वियोग न हो !'

यह है एक अमर आदर्श—जो कष्टों की चिता में डालने वाले पति को भी हृदय का अनन्त स्नेह समर्पित कर अगले जन्म में पुनः उसे प्राप्त करने के लिए तपस्या करने का संकल्प करती है !

युग की वर्तमान हवाओं में बहने वाली नारी जो सभ्यता और संस्कृति की बातें करती हैं, क्या अपने इन सांस्कृतिक आदर्शों पर गहराई से विचार करेगी ?



६

अमूल्य श्लोक

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध महाकाव्य 'किराता-र्जुनीयम्' के प्रणेता कविवर भारवि प्रारंभ में अत्यंत दरिद्र थे। उनकी पत्नी सदा ही उनके काव्य पर व्यंग्य कसती रहती—'बाज आये ऐसे कवित्व और पांडित्य से! घर में खाने को दाना नहीं, अंग ढकने को वस्त्र नहीं, छप्पर से पानी टपक रहा है और आप हैं कि काव्य लिखे जा रहे हैं। इससे तो अच्छा था कि काव्यों को जला डालते और राजा की नौकरी कर लेते।'

पत्नी की व्यंग्योक्ति कविवर के हृदय को वेध गयी। वास्तव में घर की व पत्नी की दुर्दशा से स्वयं कवि अत्यंत दुखी थे। पत्नी के ताने पर उनका हृदय भीतर-ही-भीतर रो पड़ा, और अव अपने झूठे स्वाभिमान को तिलांजलि दे, अपना काव्य एक वस्त्र में लपेट कर कवि-वर राज दरवार की ओर चल पड़े। दीन वेश में राज-सभा की ओर जाते उनका स्वाभिमान कचोट रहा था,

पाँव लड़खड़ा रहे थे, पर करे भी क्या ? दुर्भाग्य से प्रताड़ित कवि चलते-चलते एक सरोवर के किनारे जा पहुंचे। भयंकर धूप से खिन्न हो शीतल हवा का सुखद-स्पर्श पाने वहाँ विश्राम करने लगे। सरोवर में खिले हुए कमलों को देखकर कवि हृदय विचार मग्न हो गया–'ये प्रफुल्ल कमल भी रात्रि में कुम्हला जाते हैं, और पुनः सूर्य उदय होने पर मुस्कराने लगते हैं। इस छोटे से जीवन क्रम में भी सुख-दुख आता रहता है, तो मैं फिर दुख व दरिद्रता से घबराकर आज बिना बुलाये ही राज दरबार में जाकर अपना स्वाभिमान क्यों गँवा रहा हूँ ?'

कवि का हृदय चिन्तन में डूब गया। वहीं संकल्प-विकल्प में उलझे एक कमल पत्र पर उन्होंने पत्थर की नौंक से एक श्लोक लिखा—

सहसा विदधीत न क्रिया–
मविवेकः परमापदां पदम्
वृणुते ही विमृश्यकारिणं
गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः ॥

—कोई काम सहसा नहीं करना चाहिए। अविवेक ही तो बड़ी-बड़ी विपत्तियों का कारण है। सोच-विचार कर कार्य करने वाले के पास सम्पदाएं स्वयं चली आती हैं।

श्लोक लिखकर जैसे ही कमल पत्र को रखा कि उधर से महाराज स्वयं आखेट के लिए घूमते हुए उधर आ निकले। कविवर ने ज्यों ही महाराज को देखा चुप-

चाप वहाँ से हटकर अन्यत्र चले गए।

राजा ने वहीं छाया में विश्राम किया। कमल पत्र पर वह श्लोक पढ़ा तो राजा को बहुत ही सुन्दर लगा। उन्होंने कमल पत्र उठा लिया और उसे सोने के अक्षरों में खुदवाकर अपने शयन कक्ष में टांग दिया।

एक बार महाराज आखेट के लिए बाहर गये। पाँच-छः दिन बाद लौटे। रात्रि का समय था, अतः महाराज सीधे अंतःपुर में चले गये। वहाँ महारानी के पास ही एक युवक को सोया देखकर राजा क्रोध में आगबबूला हो गये। दोनों को एक ही तलवार के वार में समाप्त करने के विचार से ज्यों ही तलवार खिंची कि ऊपर श्लोक की तरफ राजा की दृष्टि चली गई। क्षणभर राजा के हाथ रुक गए, पलकें श्लोक पर जम गईं। पढ़ते-पढ़ते राजा का क्रोध कुछ शिथिल पड़ गया। तलवार हाथ से नीचे गिर पड़ी और राजा ने महारानी को जगाया। युवक भी उठा। रानी ने कहा—'बेटा! अपने पिता के चरण छुओ।' राजा आश्चर्य चकित देखता रहा। रानी ने रहस्य खोलते हुए बताया—'महाराज! यही है अपना राजकुमार। इसे बचपन में ही एक दासी चुराकर ले गई थी। वर्षों बाद हमारे अनुचर इसे ढूँढ़कर लाने में सफल हुए हैं।'

महाराज ने दूसरे ही दिन श्लोक के रचयिता का पता लगाया। दो-तीन दिन बाद नौकरों ने सूचना दी—'महाराज! इस श्लोक के रचयिता का पता तो चल गया,

पर वे राज दरबार में आने को तैयार नहीं हैं ।'

दूसरे दिन राजा स्वयं तीन लाख स्वर्णमुद्राएं लेकर भारवि की कुटिया पर पहुँचे । सम्मान पूर्वक स्वर्णमुद्राएं चरणों में रखते हुए कहा—'आपके इस श्लोक ने ही मेरे राज्य के एकमात्र उत्तराधिकारी एवं प्रिय रानी की हत्या होते-होते बचाई है ।' राजा ने कविवर भारवि को 'महाकवि' की उपाधि से विभूषित कर राज सम्मान दिया ।



७

सुख स्वप्न

इस सृष्टि का सबसे सुन्दर सुनहरा दिन वह होगा जब मनुष्य का मन नई करवट लेगा, पर-दुःखानुभूति के स्पर्श से उसका हृदय उसी प्रकार उद्वेलित होगा, जैसा स्वयं के दुःख स्पर्श में होता है। वह अपने सुख-स्वप्नों का मूल्यांकन करना सीखेगा—दूसरों के दुःख-आघातों के साथ!

भगवान महावीर ने कहा है—"**आय तुले पयासु**"—पर पीड़ा को अपनी पीड़ा से तोलो। अपने दुःख की तराजू में दूसरों का दुख रख कर तोलो, तभी तुम सुख-दुःख की सच्ची पहचान कर सकोगे।"

पर, होता है इससे उलटा! इन्सान का मन भीतर में मोम है, वाहर में पत्थर! उसे अपनी लगी—लगी सूझती है, दूसरों की लगी दिल्लगी! उसे परवाह नहीं कि उसके व्यवहार और विचार से किसको कैसी चोट पहुँचेगी? दूसरा कोई उसकी चोट से कराहता है तो वह उसे

कायर कहकर घूरने लगता है, किंतु हमदर्दी की हिलोर उसके हृदय में नहीं उठती।

मानव स्वभाव की इस विडम्बना पर व्यंग्य करने वाली प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान की एक कहानी मुझे याद आगई है—

पतझड़ में पेड़ के पत्ते चर्-चर् करते हुए गिरते जा रहे थे। उनके शोर से उद्विग्न होकर घास के तिनके ने कहा—"ए मूर्खो! गिरना है, तो गिर पड़ो; कहीं अपना सिर छुपाकर बैठ जाओ! शोर क्यों मचा रहे हो! तुम्हारे शोर से मेरे सुख-स्वप्न में बाधा पहुंच रही है।"

एक पत्ता क्रोधित होकर बोला—"नीच कहीं का! अधोगति को प्राप्त, गान विद्या से विहीन, चिड़ चिड़े तिनके! तेरी यह हिम्मत! तू क्या जाने राग की लय में क्या आनन्द है, क्या मस्ती है? हमारे संगीत से तुझे वेदना होती है? ईर्ष्यालु!"

आंधी और वर्षा ने पत्ते को भूमि की गोद में सुलादिया। फिर बहार का मौसम आया, उसकी आँख खुली, पर अब वह पत्ता घास का तिनका बन चुका था।

फिर पतझड़ का मौसम आया। पत्ते गिरने लगे। उनके शोर से जाड़े की मीठी नींद में सोये घास के तिनके की निद्रा टूट गई। वह क्रोध में बड़बड़ाया—'ये पतझड़ के पत्ते कैसे दुष्ट हैं, किसी का सुख सहा नहीं जाता

इनसे। मेरे मधुर-शिशिर-स्वप्नों को भंग करदिया इन कम्बख्तों ने !"

तभी विचारक ने कहा—एक दिन-तू भी पत्ता था और तब घास ने तिनके को तूने जो कठोर उत्तर दिया क्या वह भूल गया ?

अपने दुःख से जरा दूसरों के दुख की तुलना करके तो देख !



८

कारूं का खजाना



भगवान माहवीर का एक बोध वचन है—**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते***—हे प्रमाद में भूले मनुष्यो ! यह धन कभी भी तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकेगा।

जिस धन को मनुष्य प्राण से भी अधिक समझ बैठा है, वह प्राण निकलते समय निष्प्राण-सा देखता ही रह जाता है। मनुष्य मरता है, धन उसकी तिजोरी में बन्द पड़ा रहता है, वह एक चरण भी उसके साथ नहीं चलता ! पत्नी घर के दरवाजे तक पहुँचा कर रह जाती है और बाल-बच्चे श्मशान घाट तक ! आगे साथ क्या जाता है ? सिर्फ एक धर्म ! सुकृत ! पुण्य !

जो धर्म को छोड़कर धन जमा करने में रहा—वह मरते समय दरिद्र की तरह घर से निकलता है।

शेखसादी ने 'गुलिस्ताँ' में एक जगह लिखा है—'उस शख्स के जनाजे की नमाज मत पढ़ो, जिसने अल्लाह की

---

* उत्तराध्ययन सूत्र ४।

याद भुलादी और माल जमा करने की फिक्र में सारी उम्र बितादी।"*

एक बुद्धिमान से किसी ने पूछा—इस संसार में भाग्य-शाली कौन है ?

विद्वान ने जवाव दिया—जिसने खाया (स्वयं उपयोग किया) और बोया (परलोक के लिए सुकृत का वीज बोया) वह भाग्यशाली है। और जो मर गया और छोड़ गया, वह दरिद्र (वदनसीव) है।

कहते हैं ईरान में एक सम्राट हो गया है—कारू !† उसके पास अपार संपत्ति थी ! उसके भंडारों की तो गणना ही क्या, भंडारों की कुंजियां ही चालीस ऊँटों पर चलती थी। हजरत मूसा ने उसे एक वार उपदेश दिया था—"जिस तरह अल्लाह ने तुझ पर महरबानी की है, उसी तरह तू भी लोगों पर महरवानी कर। बादशाह कारू ने इस उपदेश पर चुटकियां वजाकर मजाक किया।

जब कारू मरने लगा तो उसने संपूर्ण खजाना अपनी छाती पर रखने का आदेश दिया। जैसे ही ख़जाना उसकी छाती पर रखा गया, वह भूमि में समागया।



---

* गुलिस्तां भाग ८।२।

† आज भी किसी के पास अपार संपत्ति होती है तो उसके लिए 'कारू का खजाना' कहावत चलती है।

९

कपड़े बदल गये

●

हजारों वर्ष पहले धर्मराज युधिष्ठिर ने कहा था—

"धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां"

—महाभारत

धर्म का तत्त्व गुफा में छिपा रहता है।

आज की परिस्थितियों में यह बात सत्य अनुभव हो रही है। आज धर्म के नाम पर अधर्म की पूजा हो रही है, सत्य के नाम पर असत्य की जय जयकार से आकाश-पाताल गूंज रहे हैं। करुणा और सरलता के नाम पर धूर्तता के आडम्बर पूर्ण अभिनय पर संसार मुग्ध हो रहा है। और इतना ही नहीं, अधर्म अपनी झूठी करतूतों से धर्म को तिरस्कृत कर रहा है। असत्य अपनी चकाचोंध से सत्य को निस्तेज बनाने का प्रयत्न कर रहा है—और मनुष्य की आँखों पर पर्दा गिर रहा है कि वह इनके अलग-अलग रूपों और मुखौटों की सचाई को जान भी नहीं पा रहा है। इन स्थितियों पर विचार करते हुए एक

पौराणिक कथा याद आजाती है।

एक बार दो सहेलियां नदी के शांत तट पर घूम रहीं थी। सहसा उन्हें दो और सहेलियां मिलीं जो फटे हुए कपड़े पहने विपद्ग्रस्त-सी कहीं से आ रहीं थी। सहेलियों ने उन्हें भद्र महिला समझकर अभिवादन किया। अभिवादन के बाद परिचय हुआ। उन दोंनों ने अपना-अपना नाम बताया—"मेरा नाम है—राजकुमारी धूर्तता !" और मेरा नाम है—"कुमारी क्रूरता।"और आपका नाम क्या है बहन जी !—दोनों ने पूछा।

मेरा छोटा सा नाम है—"दया !"और मेरा भी एक सीधा सादा नाम है—सरलता।"—उत्तर दिया दोनों सहेलियों ने।

बातों ही बातों में चारों में स्नेह और मैत्री बढ़ गई। धूर्तता ने कहा—"आओ ! देखो, नदी का शांत जल मोती-सा निर्मल और बर्फ-सा शीतल है। इसकी लहरों में अपूर्व उत्साह भरा है, हम चारों नदी में नहाएं।"

चारों सहेलियों ने अपने-अपने कपड़े किनारे पर उतार दिये और नदी में डुबकियां लगाने लगीं।

धूर्तता ने आँखें मटकाकर क्रूरता को इशारा किया और झटपट दोनों नदी से बाहर निकलीं। क्रूरता ने दया के सुन्दर रेशमी कपड़े पहन लिए और धूर्तता ने सरलता का स्वच्छ सादा परिधान अपने शरीर पर डाला और वहाँ से नौ दो ग्यारह होगईं।

दया और सरलता भी बाहर आई ! उन दोनों को पुकारने लगी "अपने कपड़े पहन कर जाइए।" पर वे लौटी नहीं। विवश हो दया और सरलता ने उन दोनों के फटे कपड़ों से ही अपना शरीर ढक कर लाज बचाई।

क्रूरता और धूर्तता तब से आजतक दया और सरलता का परिवेष पहने संसार को छल रही है। साधारण मनुष्य ही क्या, विद्वान् भी उनसे धोखा खा रहे हैं।



१०

एक चित्र : तीन परछांई

•

धर्म और शास्त्र की चर्चाओं में विजय दुंदुभि वजाने वाले आचार्य शंकर ने एक दिन अपने अनुभव की वात कही थी—

शब्दजालं महारण्यं चित्तभ्रमण-कारणम्

—विवेक चूड़ामणि ६२

ये बड़े-बड़े उपदेश और लम्वी तत्वचर्चाएं सिर्फ शब्द जाल है, उसमें मनुष्य की बुद्धि की चिड़िया फँस जाती है तो निकलना भी मुश्किल हो जाता है।

वास्तव में पोथी का धर्म, जव तक जीवन का धर्म नहीं वनता तव तक वह शब्द जाल ही है। सुन्दर से सुन्दर काव्य लिखने वाला कवि, वैराग्य का उपदेश वघारने वाला वैरागी और जोशीला भाषण सुनाने वाला नेता जव तक उन भावों को, उपदेशों और आदर्शों को अपने जीवन में नहीं उतारते, तो उनके वे काव्य, प्रवचन, और भाषण शब्द जाल के सिवा और क्या हो सकते हैं?

एक कवि ने एक गीत लिखा, जिसका भाव था 'मेरी प्रेयसि ! मैं तुम्हारी मिट्टी की देह को नहीं, किन्तु आत्मा की अनन्त सुन्दरता को प्यार करता हूँ ।'

उस गीत को पढ़कर एक प्रणयाकुल कुरूप महिला उसके निकट आई, और बोली—'मैं तुम से असीम प्यार करती हूँ। तुम मेरे रूप को नहीं, किन्तु हृदय के सच्चे प्यार को परखो, क्योंकि तुम ने अपने गीत में आत्मा की सुन्दरता से प्यार करने की बात कही है, मुझे विश्वास है, तुम उसके अनुसार मेरे हृदय के पवित्र प्यार को समझोगे !'

कवि ने घृणा से उसकी ओर देखा और मुंह फेर कर कहा—'वह तो मेरी कविता की बात है ।'

नारी ने तिरस्कार के साथ कहा—'ओ शब्दजाल फैलाने वाले पाखंडी ! समझी, तुम काव्य में कुछ और हो, वास्तव में कुछ और····!'



एक महात्मा जी ने विशाल भीड़ को सम्बोधित करते हुए कहा—'इस जीवन का सार है सेवा ! दान ! करुणा ! जो कुछ अपने पास है, गरीबों की सेवा में लुटा दो । स्वयं भूखे रहकर भी अपनी रोटी गरीबों को दे डालो ! जो नर की सेवा करता है, वही नारायण की सेवा करता है ।'

उपदेश खत्म होने के बाद भीड़ बिखर गई। एक बुढ़ा सर्दी से ठिठुरता हुआ उपदेशक के सामने आया—

महाराज ! धन्य है आपका उपदेश ! .कड़ाके की सर्दी पड़ रही है और मेरे पास तन ढकने को एक वस्त्र का चिथड़ा भी नहीं है। आपके शरीर पर इतने गर्म कपड़े हैं, दो-दो कम्बल हैं, एक मुझे मिल जाये तो महाराज ! जान बच जाए····।'

'हैं ! हैं···हटो ! हमने उपदेश दिया तो हमारे ही गले पड़ गये ! हमने सेवा और दान की प्रेरणा दे दी····अब किसी दानी से माँगो····। हटो !'

बुड्ढे ने सर्दी से काँपते हुए घूर कर देखा—'समझा ! तुम सेवा करने वाले नहीं, सेवा का उपदेश करने वाले हो, सेवा करना तुम्हारा काम नहीं है।'

* *

एक नेता ने श्रमदान यज्ञ का उद्घाटन किया—जनता को हाथ से श्रम करने की महत्ता और गौरव समझाते हुए कहा—'हमें हाथ से काम करने में गौरव का अनुभव होना चाहिए, जो श्रम से जी चुराता है, वह चोर है, देशद्रोही है····!'

भाषण समाप्त कर नेताजी आगे निकल गये। कुछ मजदूर वहाँ से मिट्टी खोदकर सर पर उठा-उठाकर ले जा रहे थे। आखिर में एक मजदूर बचा, भरी हुई टोकरी उससे उठ नहीं रही थी, कोई उठवाने वाला नहीं था तभी नेताजी उधर से निकले।

मजदूर अभी श्रमदान में उनका जोशीला भाषण

सुनकर आया था। उसने जरा हाथों का संकेत करके कहा—'भाऊ साहब ! जरा इस टोकरी को सिर पर उठवा दीजिए।'

नेताजी ने आँखें तरैरकर उसकी ओर देखा—'हैं ? क्या बक रहा है''''मिट्टी की टोकरी उठवाने को मैं ही दीखा''''सफेद खादी के उजले कपड़े मैले हो जायेंगे''''मुझे अगली सभा में भाषण देने जाना है''''और यों घूरते हुए चले गए जैसे भेड़िया मेमने पर घूर रहा हो।

मजदूर दांत किट किटाकर रह गया—'श्रम से जी चुराने वाला चोर होता है, तो तुम क्या हो, ढोंगी !!'



११

पृथ्वी गोल है ?

कभी-कभी सोचता हूँ, भौगोलिक दृष्टि से पृथ्वी, गोल है या चपटी, यह आज एक विवाद का विषय है। किंतु मनुष्य की मानसिक पृथ्वी गोल है—यह निर्विवाद सत्य है। मनुष्य के अन्तर्जगत में आज परिवर्तन की जो गति चल रही है, वह करीव-करीव उसकी मूलस्थिति को वदल चुकी है। जो धार्मिक, निस्पृहता, सत्यनिष्ठा और अध्यात्म एवं योग के पथ पर सीधे चलते थे, वे आज अधर्म, असत्य, भोग, और नास्तिकता की धुरी पर उलटे चलने लग गये हैं।

जिन्हें अधार्मिक, भौतिकवादी, अनार्य और असभ्य माना जाता था, वे आज धर्म की अधिक कदर करते हैं, योग और अध्यात्म में रुचि ले रहे हैं सत्य; ईमानदारी और सभ्यता की दौड़ में आगे वढ़ रहे हैं।

लगता है—पूरव पश्चिम को जा रहा, और पश्चिम

पूरब की ओर बढ़ा आ रहा है। भोग-थक कर योग की छाया में आ रहा है। योग-अपनी ऊब मिटाने भोग की धूप में अंगड़ाई भर रहा है।

एक कहानी है। अफकार नामक एक प्राचीन नगरमें दो विद्वान रहते थे। दोनों एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी थे, एक दूसरे के विचारों की मज़ाक उड़ाते थे। उनमें एक आस्तिक था, ईश्वर में विश्वास करता था और दूसरा नास्तिक—ईश्वर की सत्ता पर व्यंग कसता रहता था।

एक बार नगर के लोगों ने मिलकर उन दोनों की बहस करवाई, ईश्वर के अस्तित्व पर घंटों तक तर्क-वितर्क होते रहे। दोनों की ही दलीलें बड़ी वजनदार थीं !

उसी शाम को नास्तिक भगवान के मंदिर में गया अपना सिर झुकाकर पिछले पापों का पश्चात्ताप करने लगा–" प्रभो ! तुम्हारे अस्तित्व के इतने अकाट्य प्रमाण होते हुए भी मैंने उन्हें झुठलाया, तुम्हारी निन्दा की ! मुझे क्षमा कर देना !"

और उसी शाम को, आस्तिक विद्वान भी अपने घर पहुँचा। वह अपनी भूलों पर झुंझला रहा था—'किसी भी तर्क से, प्रमाण से ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध नहीं है। मैं व्यर्थ ही लोगों को छलता रहा हूँ, ये सब पुस्तकें, धर्मग्रन्थ झूठे हैं।'—बस उसने अपनी पुस्तकें एकत्र की और फूंक डाली।

नास्तिक आस्तिक की गद्दी पर पहुँच गया और आस्तिक नास्तिक की दिशा में चल पड़ा। क्या सचमुच मानव की मानसिक पृथ्वी गोल नहीं है? आज के तथा-कथित धार्मिकों की भी यही स्थिति नहीं है?



१२

चीनी की पुड़िया

संस्कृत के पद्मानंद महाकाव्य में एक सूक्ति है—

"भुजंगमानां गरलप्रसंगान्नापेयतां यांति महासरांसि"

महासरोवर में अजगर और विशालकाय सांप निरन्तर जहर उगलते रहते हैं, फिर भी सरोवर का पानी उनसे कभी दूषित नहीं हो सकता। इसी प्रकार सत्पुरुष का जीवन जो कि सद्गुणों की साधना में महासरोवर की भाँति विशाल बन गया है, निन्दक व दुष्टजनों के निंदावादों से कभी लांछित नहीं हो सकता।

निंदक का स्वभाव ही निंदाप्रिय होता है, उसकी जीभ को विष वमन करने की आदत हो जाती है। किंतु गुणी जन उस पर क्रोध नहीं करते। उनका तो आदर्श होता है—

वुच्चमाणो न संजले

—सूत्र कृतांग १।९।३१

अर्थात् क्रोध युक्त दुर्वचन कहने वाले पर भी क्रोध

नहीं करना। किंतु उस क्रोध को क्षमा से शांत कर देना। वे उस आग को पानी से बुझा डालते हैं। अविवेक को विवेक से विजय कर लेते हैं।

सिरीया के प्रसिद्ध विचारक खलील जिब्रान की एक कहानी है। किसी समय 'बुखारा' नगर में एक अत्यंत दयालु और सद्‌गुणी राजकुमार था। उसकी उदारता की दूर-दूर तक ख्याति थी। प्रजा उससे बहुत प्यार करती थी।

उस नगर में एक दरिद्र व्यक्ति रहता था। जो फटे हाल होकर भी राजकुमार की बहुत निंदा करता था। वह रात दिन राजकुमार के सम्बन्ध में जहर उगलता रहता।

राजकुमार उस दरिद्र निंदक की बातें सुनता, पर वह कभी क्रुद्ध नहीं हुआ। उलटा उसके प्रति राजकुमार के मन में दया का भाव जगता।

एक बार शरद्‌पूर्णिमा के दिन राजकुमार का जन्म-दिवस मनाया जा रहा था। नगर में चारों ओर चहल-पहल, खुशियाँ थी। राजकुमार ने एक सेवक के हाथ निन्दक के घर पर तीन उपहार भेजे—'एक आटे की बोरी, एक साबुन की थैली और एक पुड़िया चीनी की।' सेवक ने निन्दक को ये उपहार देते हुए कहा—'राजकुमार ने अपने जन्मदिवस के उपलक्ष्य में आपको यह भेंट भेजी है, क्योंकि आप उनको हमेशा याद करते रहते हैं।'

निन्दक का सीना गर्व से फूल उठा—क्योंकि उसने विचार किया—'राजकुमार सचमुच मेरा आदर करता है, इसीलिए तो उसने यह उपहार भेजा है।' अहंकार के नशे में छका हुआ वह लोगों को बताने लगा—'देखो, राजकुमार भी मेरे साथ स्नेह संपर्क बढ़ाना चाहता है, वह मेरा कितना आदर करता है, उसने मुझे अपने जन्म दिन पर उपहार भेजा है।'

निन्दक की शेखी भरी बातें एक पादरी ने सुनी। उसने कहा—'मूर्ख! राजकुमार बहुत चतुर है। उसने तेरा सम्मान करने के लिए नहीं, किन्तु तेरी आदतें सुधारने के लिए ये तीन वस्तुएं भेजी हैं। इनका मतलब कुछ समझा है ?'

निन्दक पादरी की ओर देखकर चुप रहा। वहाँ काफी भीड़ जमा हो गई। पादरी ने बताया—'यह आटा है तेरा खाली पेट भरने के लिए, क्योंकि भूखा आदमी ज्यादा शोर करता है। यह साबुन है तेरे गंदे शरीर को साफ करने के लिए, चूंकि निन्दा करते-करते तुझे नहाने की भी फुर्सत नहीं मिलती और तेरे शरीर में बदबू आ रही है। यह चीनी की पुड़िया है तेरी कड़वी जबान को मीठा करने के लिए।'

कहते हैं उस दिन से वह निन्दक राजकुमार का प्रशंसक बन गया।



१३

प्रस्तुतीकरण

अनुभुति और संवेदना—हर किसी के पास होती है, पर हर कोई कवि और लेखक नहीं वन सकता ! विचार और भाव सभी के पास होते हैं, किंतु वक्ता सव नहीं वन सकते ! जिसके पास अनुभूति को प्रस्तुत करने की कला होती है, भावों को अभिव्यक्ति देने का चातुर्य होता है, वह छोटी-सी वस्तु को भी महत्वपूर्ण रूप प्रदान कर सकता है।

एक कलाकार किसी पहाड़ी प्रदेश में भ्रमण कर रहा था। आदिवासी लोगों के वीच घूमते हुए उसने एक घर के सामने एक विशाल प्रतिमा औंधी पड़ी हुई देखी। वह किसी प्राचीन कलाकार की प्रतिमा थी, पर वहाँ के लोग उसे एक वेडोल पत्थर के सिवाय कुछ नहीं समझते थे।

कलाकारने उस घर मालिक से कहा–'आप यह पत्थर हमें वेच दीजिए।' घर मालिक ने कहा–''इस पत्थर का भी कोई मूल्य है, ले जाओ! यहाँ तो वहुत पत्थर पड़े हैं।''

कलाकार ने उसे एक चाँदी का सिक्का दिया और उस प्रतिमा को एक हाथी पर लाद कर नगर में पहुँचाया गया।

एकदिन वह पहाड़ी आदमी उस नगर में किसी काम से आया। बाजार में घूमते हुए उसने एक दुकान के सामने बहुत-सी भीड़ जमा देखी। एक आदमी जोर-जोर से पुकार रहा था—"आइए! संसार के एक महान् कलाकार की प्राचीनतम प्रतिमा देखिए! इतिहास और कला का श्रेष्ठ नमूना है। प्रवेश शुल्क सिर्फ दो रुपया!"

पहाड़ी आदमी दो रुपए देकर प्रतिमा देखने भीतर गया तो वह देख कर दंग रह गया—यह तो वही प्रतिमा है जिसे एक रुपये में बेची थी! और अब उसे देखने मात्र के दो रुपये!

यह है प्रस्तुतीकरण की कला, जिसने आज विज्ञापन बाजी का रूप ले लिया है। किंतु इसका सदुपयोग भी किया जा सकता है·······



१४

राजा के तीन गुण

●

ईरान के महान् नीतिज्ञ शेखसादी से किसी ने पूछा- "राजा में कौन-कौन से गुण होने चाहिए ?"

सादी ने उत्तर में एक कहानी सुनाई—वहुत पहले की बात है अजम (ईरान—तूरान–ईराक क्षेत्र) में एक बादशाह हुआ। वह बड़ा अन्यायी था। प्रजा पर जवर्दस्ती आरोप लगाकर उसका धन-माल छीन लेता और उन पर जोर-जुल्म करता। वादशाह के अत्याचारों से पीड़ित होकर जनता वहाँ से भागने लगी और देश-छोड़-छोड़कर दूसरे देशों में जा वसी।

एक वार वादशाह सभा में वैठा महाकवि फिरदौसी का प्रसिद्ध काव्य ग्रंथ शाहनामा सुन रहा था। उसमें ईरान के न्यायी सम्राट फिरदूं की दिग्विजय का वर्णन आया। तव वजीर ने वादशाह से पूछा—"महाराज! फिरदूं के पास न तो धन था, न कोई वड़ा देश था, न कोई खास फौज थी, फिर उसने इतने वड़े-वड़े देशों पर

विजय कैसे प्राप्त की और कैसे उन्हें अपनी हुकूमत में रख सका।"

बादशाह ने बताया–"उसके पास जनता की ताकत थी, जहाँ भी गया, वहाँ की जनता ने उसे प्रेम किया, विश्वास दिया और हर तरह से उसका साथ दिया, बस इसी कारण वह बिना हथियार व फौज के देश-पर देश जीतता चला गया।"

बजीर ने बादशाह की ओर देखा–"हजूर ! जब आप यह जानते हैं कि लोगों को साथ रखने से ही हुकूमत चल सकती हैं तो आप अपनी प्रजा को भगाते क्यों हैं ? आप भी प्रजा को प्रेम क्यों नहीं देते ? क्यों नहीं उसे राजी रखते ?"

बादशाह ने बजीर की ओर गंभीरता से देखा और पूछा—'तुम्हीं बताओ, प्रजा को राजी रखने के लिए बादशाह को क्या करना चाहिए ?"

बजीर ने जवाब दिया—प्रजा को राजी रखने के लिए बादशाह में तीन बातें होनी चाहिए—

१. उदारता
२. दयालुता
३. न्यायप्रियता

यदि बादशाह में ये तीन बातें होती हैं तो प्रजा भी बदले में उसे तीन बातें देती हैं—

१. बादशाह के खजाने को भरती हैं

२. वादशाह के लिए अपने प्राण देती है
३. वादशाह के लिए हमेशा शुभ कामनाएं करती है।

प्रश्नकर्ता ने समाधान के साथ सादी का अभिवादन किया।



१५

सोना या जागना ?



लगभग पच्चीस-सौ वर्ष पूर्व की घटना है। भगवान महावीर एक बार कौशाम्बी में पधारे। कौशाम्बी नरेश उदयन की बुआ तत्त्वज्ञा जयंती ने भगवान से—एक विचित्र प्रश्न किया —"भंते ! सोना अच्छा है, या जागना ?"

प्रश्न का समाधान देते हुए प्रभु महावीर ने कहा—

अत्थेगइयाणं जीवाणं सुत्तत्तं साहू
अत्थेगइयाणं जीवाणं जागरियत्तं साहू

—भगवती सूत्र १२।२

कुछ प्राणियों का (जो कि अधार्मिक हैं) सोते रहना अच्छा है, और कुछ प्राणियों का (जो धार्मिक हैं) जागते रहना अच्छा है।

इसी उत्तर के प्रकाश में अब देखिए सातसौ वर्ष पूर्व के ईरानी तत्त्ववेत्ता सादी का एक अपना संस्मरण—उसने लिखा है—मैंने एक अन्यायी और जोर जुल्म

करने वाले इन्सान को दिन में खर्राटे भरकर सोते देखा तो मैंने खुश होकर कहा—इसका सोना जागने से बेहतर है, न सिर्फ इसके लिए ही, किंतु दूसरों के लिए भी।"

लोगों ने आश्चर्य पूर्वक मुझे घूरकर देखा और पूछा "ऐसा आप किसलिए कहते हैं ?"

मैंने उत्तर में एक कहानी सुनाई—एक अन्यायी बादशाह ने एक धर्मात्मा फकीर से पूछा—"मेरे लिए सबसे अच्छी प्रार्थना (इबादत) कौन सी रहेगी जिससे मुझे ज्यादा से ज्यादा शांति मिले।"

फकीर ने जवाब दिया—"तुम दोपहर के वक्त ज्यादा से ज्यादा सोया करो। यही तुम्हारे लिए सबसे अच्छी प्रार्थना होगी।"

बादशाह ने आश्चर्य के साथ पूछा—'ऐसा क्यों कह रहे हैं आप ?'

फकीर बोला—"इसलिए कि तुम जितनी देर सोते रहोगे उतनी देर लोग तुम्हारे जुल्म से बचे रहेंगे, और तब तुम्हें कुछ-कुछ शांति जरूर मिलेगी।"

जब अधार्मिकों का सोते रहना अच्छा है, तो धार्मिकों का जागते रहना स्वयं ही श्रेष्ठ सिद्ध होगया। उन्हीं धार्मिक वृत्ति पुरुषों को जागरण का आह्वान करते हुए एक आचार्य ने कहा है—

जागरह ! णरा णिच्चं
जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धी

मनुष्यो ! जागते रहो, जागने वालों की बुद्धि भी जागती रहती है, और विकास करती जाती है। मगर कब···· ? जब जागने का उद्देश्य पवित्र व धर्म मय हो।··· इसीलिए कहा है—धर्मात्मा का जागना अच्छा है, और पापात्मा का सोना !



१६

पाप पलट कर आता है

तथागत बुद्ध ने एक वार एक राजपरिषद् को संबोधित करके कहा था—

अदुट्ठस्स हि यो दुब्भे पाप कम्मं अकुव्वतो,
तमेवं पापं फुसति दुट्ठचित्तं अनादरं।

—इति वुत्तक ३।४

जो राजा या अधिकारी किसी निर्दोष व्यक्ति को दोषी वताकर दण्डित करता है, तो उसका वह पाप कर्म पलटकर उसी दुष्ट चित्त वाले व्यक्ति को पकड़कर खत्म कर डालता है।

वास्तव में दूसरे के लिए खड्डा खोदने वाला स्वयं भी उस खड्डे में जा गिरता है। एक प्रसिद्ध कहावत है—

खाड़ खणै जो और को ताहि कूप तैयार!

इसी वात को स्पष्ट करने वाला एक ऐतिहासिक उदाहरण है। फारस देश में उमरूलैस नामक एक बादशाह हो गया है जिसने प्रसिद्ध नगर शीराज का निर्माण

किया था। एक बार बादशाह का एक गुलाम भाग गया। उसे पकड़ने के लिए सिपाही भेजे गए और गुलाम को पकड़ लिया गया।

राज्य का बजीर गुलाम से नाराज था, उसने यह अवसर देखा बदला लेने का। बादशाह से कहा—'जहाँ-पनाह! इस दुष्ट को मार डालना चाहिए ताकि दूसरे गुलाम डरते रहें, और कोई फिर ऐसी शरारत करने की कभी हिम्मत न करें।'

गुलाम ने बजीर की सलाह सुनी। वह चतुर था। उसने बादशाह से प्रार्थना की—'आप जो भी हुक्म देंगे, वही इन्साफ होगा। मालिक की मर्जी के सामने गुलाम का कोई चारा भी नहीं। किन्तु मैंने आपका नमक खाया है, इसलिए आपकी भलाई के लिए एक प्रार्थना करने का अधिकार मानता हूं। मैं निरपराध हूं, निरपराध के खून का पाप आपके सिर पड़े और आगे भगवान के सामने स्वयं आपको इसका दण्ड भुगतना पड़े—यह ठीक नहीं होगा, इसलिए मुझे भले ही मार डालिए, किन्तु पहले मुझे दोषी बनाकर; ताकि निर्दोष व्यक्ति की हत्या का पाप आपके सिर पर न पड़े।'

बादशाह को गुलाम की बात पसंद आई। बोला—'फिर तू ही बता, कैसे करना चाहिए?'

गुलाम ने जवाब दिया—'मुझे आज्ञा दीजिए कि पहले मैं वजीर को मार डालूँ, और फिर इस अपराध के लिए आप मुझे मरवा डालिए। ताकि आपका यह कार्य संसार

में और भगवान के दरवार में भी न्याय कहला सके।'

वादशाह ने हँसकर बजीर की ओर देखा—'गुलाम कहता तो ठीक है, कहिए आपकी क्या राय है ?'

बजीर घवराकर बोला—'जहांपनाह ! यह गुलाम विचारा खानदानी सेवक है, इसे छोड़ दीजिए' इसकी कोई गलती नहीं, गलती मेरी है कि मैं नीतिकारों के इस उपदेश को भूल गया—'तुम किसी पर ढेला फेंकते हो, तो उसकी गोली का निशान बनने से बच नहीं सकते।' जो दूसरों का बुरा सोचता है, खुद उसका भी बुरा होता है।



१७

अब तेरी परीक्षा



मनुष्य हिंसा एवं अन्याय क्यों करता है ?

इसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए भगवान महावीर ने कहा है—

> जे पमत्ते गुणट्ठिए से हु दंडे त्ति पवुच्चति
>
> —आचारांग १।१।४

जो प्रमत्त और विषयासक्त होता है, वही दूसरों को —हिंसा, पीड़ा एवं अन्याय के द्वारा दंडित करता है।

अपने प्राणों का, अपने पुत्र-परिवार एवं सुख-सुविधाओं का जो मूल्य मनुष्य की दृष्टि में है, यदि वह दूसरों के प्राण आदि का भी वही मूल्य समझले तो फिर संसार से हिंसा एवं अन्याय नामक तत्व ही समाप्त न हो जाय ?

एक फारसी विद्वान का कथन है—कि तुम्हारे पैर के नीचे दवी चींटी का हाल समझना हो तो कल्पना करो कि एक हाथी के पैर के नीचे दवने पर तुम्हारा क्या हाल हो

सकता है ? दूसरे के दुःख को अपने दुःख से समझो।"

पर कहां समझा है अब तक उसने ? अपने थोड़े से स्वार्थ के लिए—राजा अपनी प्रजा को मौत के घाट उतार सकता है, माता-पिता संतान को बेच सकते हैं, और न्याय एवं नियम की पोथियां भी बदली जा सकती हैं। देखिए एक प्राचीन उदाहरण—

एक बार एक सम्राट को कोई भयंकर रोग हुआ। चिकित्सा करते-करते वह थक गया, पर रोग नहीं मिटा। किसी हकीम ने सम्राट को बताया कि "अमुक खास लक्षण वाले आदमी का जिगर (यकृत) मिल जाये तो आपका रोग दूर हो सकता है।"

उस आदमी की खोज शुरू हुई। देश के चप्पे-चप्पे को छाना गया। आखिर एक गाँव में एक गरीब लड़का मिला जिसमें ये सब लक्षण थे। सम्राट ने उस लड़के के माता-पिता को बुलाया और कहा—"इस लड़के के बराबर सोना तोलकर ले लो, लड़का हमें दे दो।" लोभी माता-पिता ने सोने के साथ लड़के का सौदा कर लिया।

इसके बाद राज्य के न्यायाधीश ने भी राज सभा में अपना निर्णय दिया कि—एक सम्राट् की जीवन रक्षा के लिए किसी एक व्यक्ति को मार डालना कोई अपराध नहीं है, न्याय की दृष्टि से भी यह उचित ही है।

अब उस लड़के को वध के लिए सम्राट के सामने

खड़ा किया गया, और जल्लाद हाथ में चमचमाता खंजर लेकर उसका कलेजा निकालने तैयार हुआ। तभी वह असहाय लड़का आकाश की ओर देखकर बड़ी जोर से हँसा।

सम्राट ने चकित होकर पूछा—"मौत को सामने देखकर लोग रोते, सिर पीटते हैं, तू ऐसे समय में भी हँस रहा है, ऐसी क्या वात है ?

लड़के ने कहा—'जो माता-पिता अपने पुत्र के लिए सव कुछ निछावर करने को तैयार रहते हैं, वे भी सोने के लालच में आकर पुत्र की बलि देने तैयार होगए। जो न्यायाधीश न्याय के सिंहासन पर बैठकर न्याय करने की शपथ खाता है, वह भी कुछ चाँदी के टुकड़ों के लिए एक निर्दोष की हत्या का समर्थन करने लग गया और जो सम्राट प्रजा को संतान की तरह पालने के लिए सिंहासन पर वैठता है वह सिर्फ अपनी बीमारी मिटाने के लिए मेरा कलेजा खाना चाहता है तो एसे समय में उस भगवान की ओर देख रहा हूं–कि हे भगवान ! ये तो अपने धर्म से गिर गये हैं, अब तेरी परीक्षा और है कि तू क्या करता है ?'

लड़के की वातें सम्राट के हृदय में चुभ गई। उसकी आँखें भर आई। लड़के का सिर चूमते हुए उसने कहा—'अपने शरीर के लिए किसी निर्दोष की हत्या करने की

अपेक्षा मेरा मर जाना ही ठीक है।" उसने लड़के को सम्मान और प्यार देकर अपने पास रख लिया। और धीरे-धीरे उसका स्वास्थ्य सुधर गया।

वास्तव में दूसरे के दुख को अपने दुख के समान समझना ही सच्ची करुणा है।



१८

स्वर्ग से भी ऊँचा

हजारों वर्ष पहले महाभारत काल के महान् नीति-वेत्ता विदुर ने धृतराष्ट्र से कहा था—

द्वाविमौ पुरुषौ राजन् ! स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः ।
प्रभुश्च क्षमयायुक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् !

—महाभारत उद्योगपर्व ३३।५८

'राजन् ! दो प्रकार के पुरुष स्वर्ग के भी ऊपर स्थान पाते हैं। उनकी महानता अपरिमेय होती है।'

धृतराष्ट्र ने पूछा—'वे कौन से दो पुरुष ?'

विदुर ने कहा—शक्तिशाली होने पर भी क्षमा करने वाला, और निर्धन होने पर भी दान देने वाला।

क्षमा वही कर सकता है, जिसका हृदय उदार और विशाल होता है। एक प्रसिद्ध दोहा है—

क्षमा बड़न को होत है, ओछन को उत्पात।
कहा विष्णु को घट गयो, जो भृगु मारी लात।

कहते हैं ब्रह्मर्षि भृगु एक बार देवताओं में बड़ा कौन है, इसकी परीक्षा करते हुए ब्रह्मा, शिव आदि के पास घूम आये। पर उन्हें कहीं बड़प्पन का दर्शन नहीं हुआ तो वे शेष-शय्याशायी विष्णु के पास पहुँचे। लक्ष्मी जी उनके पास बैठी पांव दबा रही थीं। भृगु ऋषि ने पहुँचते ही विष्णु को पांव की ठोकर मार कर उठाया। विष्णु ने ऋषि को सामने खड़ा देखा तो वे अत्यन्त विनम्रता के साथ उनके चरणों को सहलाते हुए बोले—'भगवन्! कहीं मेरी कठोर देह के स्पर्श से आपके चरण कमलों को कोई कष्ट तो नहीं पहुँचा?

भृगु पानी-पानी हो गए। उन्होंने उद्घोषणा की—'विष्णु ही सर्व देवों में श्रेष्ठ हैं।'

यह हुई देवों की बात! अब मनुष्यों की बात भी सुनिए—बगदाद के खलीफा हारूं रशीद अपनी न्याय-परायणता और प्रजावत्सलता के लिए प्रसिद्ध थे। एक बार उनका शाहजादा क्रोध में आनन फानन हुआ आया, और बोला—'आपके अमुक अफसर ने मुझे माँ की गंदी गाली दी है।'

खलीफा ने शाहजादे को सामने बैठाया और वजीरों से पूछा—'बताइए, उस अफसर को इस अपराध की क्या सजा देनी चाहिए?

किसी ने कहा—उसे जान से मरवा डालिए।

किसी ने कहा—उसकी जीभ खिंचवा देनी चाहिए।

किसी ने कहा—उसका धन माल जब्त कर देश से निकाल देना चाहिए।

खलीफा को किसी की बात पसंद नहीं आई। उन्होंने अपने शाहजादे से कहा—'प्यारे वेटे ! सब से अच्छा तो यह है कि तुम उसको माफ कर दो। क्योंकि जो दूसरों के सौ अपराध माफ करता है, भगवान उसके हजार अपराध माफ कर देता है। यदि तुम्हारे में इतना आत्मबल नहीं है, वदला लेना ही चाहते हो, तो जाओ, तुम भी उसे वही गाली दे सकते हो, जो उसने तुम्हें दी है। किंतु यदि बदले की हद से बाहर चले गए तो उसकी जगह तुम अपराधी हो जाओगे।"

यह है क्षमा का आदर्श ! जो एक बादशाह के सिंहासन पर वैठकर भी गाली देने वालों को माफ करने की नसीहत देता है। अधिकार सम्पन्न होकर भी क्षमा की शिक्षा सुनाता है।



१६

नया आश्चर्य

भगवान महावीर ने एकवार अपने प्रिय शिष्य गण-धर गौतम को संवोधित करके कहा—"गौतम ! जैसे घास की नोंक पर हिलती हुई ओस की बूंद सूर्य की रूपहली किरणों के प्रकाश में मोती-सी चमकती हुई प्रतीत होती है, पर वह कितनी देर ! कुछ ही क्षण वाद तो उसे गिर कर मिट्टी में मिल जाना है, बस ऐसा ही है यह मनुष्य का नश्वर जीवन !"*

कोई यह सोचे कि—'**नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि ।**'† मुझे मौत अपने मुंह में पकड़ कर नहीं ले जायेगी, उसका यह भ्रम ऐसा ही है, जैसा दिन का प्रकाश देखकर कोई सोचे कि अव रात नहीं आयेगी ?

यह मानव मन का भ्रम, है सवसे वड़ा अज्ञान है, मोह है, मूढता है, कि वह अपने सामने संसार को मरता हुआ

---

* उत्तरा १०।१ † आचारांग १।४।२

देखकर भी स्वयं निश्चित हुआ बैठा है, जैसे उसे मरना ही नहीं है। धर्मराज युधिष्ठिर ने इसे ही सबसे बड़ा आश्चर्य कहा है! यक्ष ने जब उनसे पूछा—धर्मराज! कहिए, संसार में सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है? तो युधिष्ठिर बोले—

अहन्यहनि भूतानि गच्छन्ति यमसंदिरम् ।
शेषाजीवितुमिच्छन्ति किमाश्चर्यमतः परम् ।

संसार प्रतिदिन मर रहा है, एक-से-एक आगे यम-राज के द्वार पर पहुंच रहे हैं, किंतु अपने बाप दादों, और मित्र-बंधुओं की मृत्यु देखकर भी जो आज जीवित है वह सोचता है कि बस, वे चले गये, मुझे तो सो वर्ष और जीना है—इससे बढ़कर आश्चर्य और क्या होगा? दूसरों को मरते देखकर भी मनुष्य अपना मरना भूल गया है।

कोई किसी से मरने की बात कहे, तो उत्तर में वह कह उठता है—'मरे मेरे दुश्मन!'

वह नहीं सोचता कि 'दुश्मन तो मरेगा, पर क्या तुम नहीं मरोगे?' ईरान का न्यायी और सदाचारी बादशाह नौशेरवां एक बार दरबार में बैठा था। एक आदमी ने आकर कहा—'भगवान की कृपा समझिए, आपका अमुक शत्रु मर गया है।'

बादशाह ने एक तीखी नजर उसके चेहरे पर डाली और बोले—'क्या तुमने नहीं सुना, कि भगवान ने मुझे अमर जीवन प्रदान कर दिया है?'

वह आदमी आश्चर्य विमूढ़ हुआ बादशाह के मुंह को ताकने लगा। 'आपके कथन का आशय क्या है, मैं नहीं समझ पाया····?' उसने कहा।

बादशाह ने उत्तर दिया—'मुझे अपने शत्रु की मृत्यु से कोई खुशी और आश्चर्य नहीं है, क्योंकि मैं जानता हूँ, खुद मेरा जीवन भी हमेशा के लिए नहीं है। मेरे कानों में निरन्तर यह आवाज गूंजती रहती है—दूसरे के मरने पर क्या खुशी मनाता है, आखिर तुझे भी एक दिन मरना है, जब मैं अमर नहीं हूँ, तो शत्रु के मरने पर खुशी कैसी और कैसा रंज मित्र के मरने पर ?'



२०

विजय का रहस्य



एक चीनी कहावत है- "जब किसी राज्य का शासक सोता है तो प्रजा जागती रहती है।" इसका अभिप्राय है शासक जब प्रजा के सुख-दुःख से बेपरवाह होकर अपने भोग विलास एवं आनन्द में ही मगन रहता है तब प्रजा दुःखों एवं अन्यायों से पीड़ित हो उठती है, उसका सुख-चैन हराम हो जाता है।

महात्मा शेखशादी ने बोस्ताँ में एक जगह लिखा है- "प्रजा जड़ की तरह है, राजा वृक्ष की तरह! वृक्ष का आधार जड़ है, यदि वृक्ष फला-फूला रहना चाहता है तो उसे जड़ को हरी-भरी रखना होगा। जड़ सूख गई, कुम्हला गई तो वृक्ष ढह पड़ेगा।"

इसी भाव को शब्दान्तर के साथ बौद्ध ग्रन्थ जातक में यूं लिखा है—'जो व्यक्ति फल वाले विशाल वृक्ष के पके हुए फल तोड़ता है उसको फल का मधुर रस भी मिलता रहता है, और भविष्य में फलने वाला बीज भी

नष्ट नहीं होता, इसी प्रकार जो राजा विशाल वृक्ष के समान राष्ट्र का नीति एवं धर्म से प्रशासन करता है, वह राज्य का आनन्द भी लेता है और अपने राज्य को सुरक्षित रखता हुआ उसका विस्तार भी करता जाता है।

—(जातक १८।५२८)

इन्हीं विचारों की प्रतिध्वनि गूँज रही है- यूनान के विश्वविजेता सिकन्दर महान् के इस अनुभव में—

एकवार किसी ने सिकन्दर से पूछा—आपने पश्चिम से पूर्व तक फैले हुए इतने सारे देशों पर मुट्ठी भर सैनिकों की सहायता से विजय कैसे प्राप्त करली ? आपसे पहले भी वहुत से वादशाह हो गए हैं जो सम्पति में, वल में, सेना में हर तरह से आपसे वढ़चढ़कर थे मगर उन्होंने कभी भी इतनी महान विजय प्राप्त नहीं की ?"

सिकन्दर महान् मुस्करा कर वोले—"इसमें कोई वड़ा रहस्य नहीं है। मैंने जव कभी किसी देश को जीता तो अपने तीन सिद्धान्तों का वरावर ध्यान रखा, और उन्हीं सिद्धान्तों ने मुझे विजय-पर-विजय का द्वार खोल दिया, विजित प्रजा का प्यार और विश्वास भी दिया।"

वे सिद्धान्त कौन से हैं ?–प्रश्नकर्ता ने पूछा।

सिकन्दर ने उत्तर दिया–

१. मैंने विजित देश की प्रजा पर कभी जुल्म नहीं किया, हमेशा उसके जान-माल की रक्षा का ध्यान रखा।

२. मैंने विजित देश के शासकों के साथ सदा सम्मान पूर्ण व्यवहार किया और उनकी बहादुरी की प्रशंसा की।

३. मैंने विजित प्रजा और शासक-दोनों की सुख-सुविधाओं का, उनके हार्दिक विश्वासों का और उनके जातीय गौरव का ध्यान रखा।

इसलिए मुझे अपने अधीन विजित देशों से कभी कोई खतरा नहीं हुआ, वहाँ की प्रजा-राजा ने मेरा सहयोग किया। और आगे-से-आगे मेरा रास्ता साफ होता गया!

—गुलिस्ताँ में उद्धृत कथा से



२१

दिखावे की भक्ति

विद्वानों ने कहा है—जो व्यक्ति लोगों को प्रभावित करने के लिए अपने धार्मिक क्रियाकांडों का प्रदर्शन करता है, लोक रंजन के लिए तपस्या करता है, वह वैसा ही मूर्ख है—जैसा कोई लोगों को अपनी समृद्धि जताने के लिए ऐरावत हाथी पर लकड़ियों का भार ढोता है, कूड़ा-कचरा भरता है।

आचार्य भद्रवाहु के शब्दों में लोक प्रदर्शन करने वाले की तपस्या-ईख के फूल जैसी निरर्थक है—

मन्नाभि उच्छुफुल्लं व निपफलं तस्स सामन्नं

—दशवै० नि० ३०१

एक वार किसी महात्मा जी के चेले की प्रशंसा सुनकर राजा ने उन्हें अपने महलों में भोजन के लिए निमंत्रित किया।

राजपुरुषों ने चेला जी के सामने तरह-तरह के स्वा-

दिष्ट और सुगन्धित व्यञ्जनों के थाल लाकर रखे। उसके मुंह में पानी छूट आया। पेट भी पुकारने लगा, किन्तु वे चिड़िया की तरह एक-एक दाना चुगने लगे, इस विचार से कि लोग समझे चेला जी बहुत ही अल्पाहारी और संयमी है।

भोजन के बाद चेला जी का उपदेश और भजन हुआ। वे भजन गाते-गाते जमीन पर लुढ़क पड़े—इस विचार से कि लोग समझे, प्रभु भक्ति में कितने लीन हैं।

बहुत देर तक भक्ति का नाटक रचने के बाद सायं-काल चेला जी वापस अपने आश्रम आगये। गुरु जी प्रतीक्षा में बैठे थे। चेला जी आते ही बोले—'कुछ खाना बचा हो तो जल्दी लाओ, पेट में चूहे दंड पेल रहे हैं।'

गुरु ने आश्चर्य के साथ पूछा—शिष्य ! तू तो राजा के यहाँ भोजन करने गया था, क्या वहाँ कुछ भी नहीं खाया ?

चेले ने कहा—खाया क्यों नहीं, किंतु सिर्फ कहने भर को, किसी खास कारण से भूखा ही रहा…..।'

गुरु बड़े स्पष्टवक्ता और सरल हृदय थे, सिर पर हाथ धरते हुए कहा—'मूर्ख ! वह खास कारण कौन सा भगवान का संदेश था। इसके सिवा और क्या कारण होगा कि लोग देखें कि चेला कितने संयमी और अल्पाहारी हैं, जो दो-चार दाने खाते हैं, और दिन भर प्रभुभक्ति में लीन

रहते हैं। किन्तु जैसे वहां के खाने से तेरा पेट नहीं भरा, याद रख, उसी तरह उस दिखावे की प्रभु भक्ति से भी कोई लाभ नहीं होने वाला है।'



२२

असली सोना

उपनिषद् का एक वाक्य है—

अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन

—बृहदारण्यक २।४।२

धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।

जो धन जड़ है, नश्वर है, वह हमेशा जड़ता ही पैदा करता है, नश्वर खेल रचाता रहता है। निर्ग्रन्थ महर्षियों की भाषा में वह-भार है—**सव्वे आभरणा भारा**, और बंधन है। धन तिजोरी में पड़ा रहता है, किंतु उसका भार मनुष्य की छाती पर रहता है। पैसा भले ही बैंक में पड़ा हो, या जमीन में गड़ा हो, अथवा आलमारी में छिपा हो, वह हमेशा मनुष्य को बाँधे रखता है।

धन का भार हलका तभी हो सकता है, जब उस धन की नश्वरता को समझ लिया जाय। वह बंधन तभी छूट सकता है जब उसकी ममता मन से हट जाये और

आत्मा के अनन्त अक्षय धन पर मनुष्य का मन आश्वस्त हो जाये।

धन आने का मद उसे होता है, जो धन की वास्तविकता से अपरिचित है। धन जाने का शोक भी उसे ही होता है, जो उसकी असलियत को नहीं जानता। वास्तव में जिसने अपने असली धन को पा लिया, उसे न धन का गर्व होता है, न चिंता और शोक!

बौद्ध साहित्य में भिक्षु कोटिकर्ण की कहानी बहुत ही प्रेरणादायी है। भिक्षु कोटि-कर्णश्रोण अपने गृह-जीवन में बहुत ही धनी मानी था। उसके कानों के कुंडलों का मूल्य ही था एक करोड़ स्वर्ण मुद्रा। इसी कारण लोग उसे 'कोटिकर्ण' कहने लग गये। किंतु एक दिन उसे धन की निःसारता और अशरणता प्रतीत हुई और वह समस्त संपत्ति का त्याग कर भिक्षु बन गया।

भिक्षु के वैराग्य की कहानी लोगों की जबान पर नाच रही थी। एक बार वह एक नगरी में आया तो उसे देखने-सुनने को जनसमुद्र उमड़ पड़ा। हजारों हजार व्यक्ति उसकी सभा में दत्तचित्त होकर उसके वैराग्य की कहानी सुनने लगे। उसकी वाणी और जीवन-कथा इतनी मधुर और हृदयग्राही थी कि प्रातःकाल से संध्या हो चली थी पर सभा ज्यों की त्यों जमी रही।

उस सभा में एक कात्यायनी नामक धनाढ्य गृहस्वामिनी भी बैठी थी। संध्या होने पर उसने दासी को

कहा—तू जा, और घर में दीपक जलादे, यह अमृतोपम उपदेश छोड़कर आने का मेरा तो जी नहीं करता।

दासी अपने भवन में पहुँची तो वह हक्की बक्की रह गई। वहाँ सेंध लगी थी, भीतर में चोर स्वर्ण आभूषणों की गठरियां बांध रहे थे। चोरों का सरदार वाहर खड़ा निगरानी रख रहा था।

घबराई हुई दासी उलटे पांवों लौट पड़ी। चोरों का सरदार उसके पीछे-पीछे चल पड़ा कि देखें यह कहां जाकर किसे खबर देती है। दासी स्वामिनी के पास पहुँचकर घबराये हुए स्वर में बोली—'स्वामिनी ! घर में तो चोर घुस गये'। कात्यायनी ने कुछ सुना ही नहीं, वह उपदेश सुनती रही। दासी ने घबराकर कहा—'मां ! मां ! सुनती नहीं हो, घर में चोर घुस आये हैं ! समस्त स्वर्ण आभूषण लिये जा रहे हैं।'

कात्यायनी ने धीमे से आँख ऊपर उठाई। 'पगली ! वे ले जाते हैं तो ले जाने दे। वे सब स्वर्ण आभूषण नकली हैं। इतने दिन मैं अज्ञान में थी, उन्हें असली मान बैठी थी। जिस दिन उनकी आँख खुलेगी वे भी पछतायेंगे, उसे नकली पायेंगे। मुझे सच्चा स्वर्ण तो आज मिला है ....। इसे कोई चुरा ही नहीं सकता'....कात्यायनी का उत्तर सुन दासी आँखें फाड़कर उसकी ओर देखती रही, वह समझ नहीं सकी, स्वामिनी आज क्या कह रही है।

पीछे खड़े चोरों के सरदार ने यह सब सुना तो

उसकी आँखें फटी रह गईं। जैसे कोई वर्षों से बंद द्वार सहसा खुल गया हो,—"हैं! क्या कह रही है?, क्या वह सब नकली हैं?, फिर असली स्वर्ण क्या है? हमें वह नकली सोना लेकर क्या करना है जिसके रहने और जाने से उसके स्वामी को न हर्ष हो, और न शोक! हमें भी तो वही सोना चाहिए जिसके कारण यह गृहस्वामिनी अपने को धन्य-धन्य मान रही है।" चोरों का सरदार वहीं डटा रहा, और भिक्षु की हृदय-बोधक वैराग्य कथा सुनने में लीन हो गया।

चोरों के सरदार का मन जाग उठा। जैसे सघन अंधकार में कोई दीप जल उठा हो। वह सिर पर पाँव रख कर दौड़ा-अपने साथियों के पास आया—"मित्रो! यह सोना नकली है, इस की गठरिया मत बांधो! आओ! तुम्हें असली सोना दिखाऊं!"

चोरों ने सब स्वर्ण आभूषण ज्यों के त्यों वहीं डाल दिए। सरदार के पीछे-पीछे वे भिक्षु कोटिकर्ण श्रोण के निकट पहुंचे। वैराग्य के प्रकाश में उन्हें आत्मा के असली स्वर्ण का दर्शन मिला और वे धन्य-धन्य हो गए!

सच है—

जब आवै संतोष धन सब धन धूलि समान।



२३

बुद्धि को उलटिए



एक नाव समुद्र की बलखाती लहरों पर चल रही थी। उसमें अनेक यात्री बैठे थे। एक संत भी उस नाव से यात्रा कर रहा था। कुछ दुष्ट और शरारती व्यक्ति उस नाव में थे। वे परस्पर अट्टहास, निन्दा और अश्लील मजाकें कर रहे थे। संत ने उन्हें कहा—बन्धुओ! बात करना है, तो कुछ ऐसी अच्छी बातें करो, जिन्हें सुनकर दूसरों को भी प्रसन्नता हो, तुम्हारी बातें सुनकर तो सभी यात्रियों के मन में लज्जा और घृणा उमड़ रही है।"

संत की शिक्षा ने जैसे सांप की पूँछ पर पैर रख दिया। वे संत को गालियाँ देने लगे। संत मौन होकर प्रभु भजन में लीन हो गया। उन दुष्टों का क्रोध चोट खाये नाग की तरह दुगुने वेग से उफन पड़ा। संत के सिर पर वे जूते लगाने लगे, उस पर थूकने लगे। घूंसे और लातों से मरम्मत करने लगे। संत अपनी प्रार्थना में मस्त था। तभी आकाशवाणी हुई–संत! तुम कहो, तो इन दुष्टों

को अभी करनी का फल चखा दूं, इस नाव को उलट दूं ?'

आकाशवाणी सुनकर यात्री घबराए। दुष्टों ने संत के पैर पकड़े और आँसू बहाकर क्षमा माँगी।

पुनः आकाशवाणी हुई—'संत ! बोलो ! तुम चाहो तो अभी इस नाव को उलट दूं।'

संत ने आँखें खोली—और विनम्र स्मित के साथ आकाश की ओर देखकर कहा—'देव ! तुम उलटना ही चाहते हो तो, इन सब की बुद्धि को उलट दो। नाव को उलटने से क्या होगा ?'

वास्तव में तो मनुष्य की कुबुद्धि ही उसे दुष्टता की ओर प्रेरित करती है। फिर उस कुबुद्धि को ही मिटाना चाहिए, कुबुद्धिवान को मिटाने से क्या लाभ ?

भारतीय संस्कृति का यही अमर संगीत है—कि मनुष्य ! अपनी बुद्धि को निर्मल रख ! अपने मन को पवित्र रख ! तेरा कर्म तो मात्र मन और बुद्धि का प्रतिबिम्ब है। मन कुआँ है, कर्म जल है। कुएं में यदि मलिन और खारा पानी होगा तो कर्म के डोल में साफ और मीठा पानी कहाँ से आयेगा ? इसलिए सर्वप्रथम मानव को यही संदेश दिया गया है—

मा ते मन स्तत्रगान् मा तिरोभूत।

—अथर्ववेद ८।१।७

मनुष्य ! सावधान रह ! तेरा मन कभी कुमार्ग में न

जाये, यदि चला जाये तो उसे तुरंत मोड़ले, वहाँ उसे लीन मत होने दे।

यही बात गणधर गौतम ने कही है—

मन रूपी घोड़ा जो दौड़ लगाता हुआ कुमार्ग में जाना चाहता है, मैं उसकी लगाम पकड़े बैठा हूँ और उसे सन्मार्ग की ओर बढ़ाए चल रहा हूँ।



२४

तू भी सो जाता

•

जो अपने सत्कर्म के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करता है वह वास्तव में दुहरी मूर्खता करता है—अपने सत्कर्म को तो नष्ट करता ही है, पर दूसरों के दोष देखने का पाप भी करता है। इसीलिए ज्ञानीजनों ने वार-वार यह कहा है—

अन्नं जणं खिसइ बाल पन्ने

—सूत्रकृतांग १।१३।१४

अपने ज्ञान के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा करना मूर्ख आदमी का काम है। बुद्धिमान किसी की भी निन्दा नहीं करे—**नो तुच्छ ए** (सूत्रकृतांग) किसी के दोषों पर नजर नहीं टिकाए—

न सिया तोत्त गवेसए

—उत्तरा० १।४०

यदि तुम्हारे पास आँख है, देखने की शक्ति है, तो

मुस्कराते हुए फूलों को देखो, तुम्हें भी तृप्ति मिलेगी, आँखें भी प्रसन्न होंगी। पतझड़ की सूनी संध्या पर आँखें दौड़ाने से क्या लाभ होगा ? गंदगी पर नजर टिकाने से तो अच्छा है, आँखें बंद ही रखी जाय !....

शेखसादी ने अपनी आत्म कथा में लिखा है—'बचपन में वह भगवान की खूब भक्ति किया करता था। सुबह बहुत सवेरे उठकर नमाज पढ़ता और कुरान शरीफ का पाठ करने बैठ जाता।'

एक बार मस्जिद में अपने पिता के पास बैठकर कुरान-शरीफ का पाठ करने बैठा। बहुत रात बीत गई, आस - पास के सभी लोग नींद में खुर्राटे भरने लग गए, पर सादी की आँखों में बल भी नहीं पड़ा। अपने पिता से कहा—'अब्बाजान ! देखिए ये लोग तो मुर्दों से भी बाजी मार ले गए। अल्लाह की फिक्र भी नहीं है इन्हें !'

पुत्र की बात सुनकर पिता ने दुःखी दिल से कहा—'बेटा ! अच्छा होता इन लोगों की तरह तू भी सो जाता, तो दूसरों के दोष (ऐब) देखने के पाप से तो बच जाता।' अगर तेरी आँखें सचमुच भगवान को देखती होती, तो औरों के दोष नहीं देख पाती। पर तू कुरान हाथ में लेकर भी शैतान की आँखें लिए बैठा है।' सादी ने कान पकड़ा—सचमुच देखना हो तो किसी की भलाई देखना चाहिए, बुराई नहीं।....



२५

संकड़ी गली

•

भगवान महावीर की एक दार्शनिक सूक्ति है—

जेण सिया तेण णो सिया

—आचारांग १।२।४

तुम जिन वस्तुओं और भोगों से सुख की इच्छा रखते हो, वस्तुतः उनसे सुख नहीं मिल सकता। चूंकि भोग और सुख दोनों ही दो विपरीत मार्ग है। एक पूरब का एक पश्चिम का। धूप और छांह, आग और जल की तरह भोग और योग, लोकैषणा और आत्मैषणा दो सर्वथा भिन्न तत्त्व है। जब मन में कामना होती है, तब विरक्ति नहीं आ सकती। जब मन में चाह होती है, तब निस्पृहता कैसी? इसीलिए तो कहा है—

जस्स णत्थि इमा जाई
अण्णा तस्स कओ सिया?

—आचारांग १।४।११

जिसको लोकैषणा नहीं है, उसे अन्य चिन्ताएं और पाप-प्रवृत्तियाँ भी नहीं है। वस्तुतः जब मन लोकैषणा में रमता है, तब आत्मा की एषणा नहीं हो सकती। राम और रावण की तरह भोग और योग, त्याग और काम एक साथ नहीं रह पाते। कबीर की भाषा में—

प्रेम गली अति सांकड़ी तामै दो न समाय।

इस संकड़ी गली में त्याग और भोग साथ-साथ कैसे रह सकते हैं ?

एक बादशाह ने फकीर से पूछा—'कभी आप मुझे भी याद करते हैं ?'

फकीर ने जबाब दिया—'हाँ, हाँ, क्यों नहीं ?'

बादशाह ने खुश होकर पूछा—'भला किस वक्त ?'

फकीर ने निर्भयता के साथ कहा—'जब भगवान को भूल जाता हूं, तब आपकी याद आ जाती है।'

वास्तव में जब साधक भगवान को, अर्थात् अपने को भूल जाता है, तभी वह दूसरों को याद करता है।



२६

नाम के लिए

तथागत बुद्ध ने कहा है—

अनरियधम्मं कुसला तमाहु
यो आतुमानं सयमेव पावा।

—सुत्तनिपात ४।४।१।३

जो स्वयं अपनी प्रशंसा (आत्म-प्रशंसा) करता है, वह अनार्य धर्म का आचरण करता है।

आत्मप्रशंसा, आत्मख्याति की भावना धर्म के क्षेत्र में सदा-सदा से निषिद्ध है। आचार्य शंकर ने तो यहां तक कहा है—**आत्मानं च ते घ्नंति ये स्वर्गप्राप्तिहेतूनि कर्माणि कुर्वन्ति**—(केनोपनिषद शांकर भाष्य) जो केवल स्वर्ग या परलोक के सुख के लिए कर्म करते हैं, वे सचमुच में अपनी आत्म-हत्या करते हैं।

पर, स्वर्ग की कामना तो दूर, आज तो मनुष्य लौकिक लाभ, यश और कीर्ति की भावना से मर मिट रहा है। अपनी प्रसिद्धि और नाम के लिए धर्म क्षेत्र को

भी सौदा बना रहा है।

प्रायः देखा गया है, धर्मशाला, अस्पताल, स्कूल, उपाश्रय और मंदिरों का निर्माण करने वाले, परलोक के पुण्य की अपेक्षा इस लोक के यश को ही सर्वस्व मान रहे हैं और उस निर्माण पर अपने नाम का शिलालेख लगाकर अपूर्व आत्म तुष्टि से पुलक उठते हैं, जैसे कोई अनन्त पुण्य का अर्जन कर चुके हों।

एक दार्शनिक कहीं घूमता हुआ एक सड़क पर से गुजरा। उसने देखा, सामने एक विशाल मंदिर का निर्माण हो रहा है। दार्शनिक को आश्चर्य हुआ—आज तो मंदिर में जाने वाले घट रहे हैं, अनेक मंदिर सूने पड़े हैं, उनमें जाकर कोई घंटी घडियाल भी नहीं बजाता, वहां नया मंदिर बन रहा है? वह जिज्ञासा लिए उस मंदिर की ओर बढ़ गया।

मन्दिर के मुख्य द्वार पर पहुँच कर उसने लोगों से पूछा—यह मन्दिर क्यों बन रहा है?

लोगों ने दार्शनिक की ओर घूर कर देखा—क्या कोई पागल तो नहीं है? यह भी कोई प्रश्न है? मन्दिर तो बन रहा है, भगवान के लिए!

दार्शनिक को सही उत्तर नहीं मिला, वह और भीतर चला गया। एक बूढा कारीगर जो सब की देख रेख कर रहा था, बैठा था। दार्शनिक ने उसके सामने वही प्रश्न दुहराया—मन्दिर क्यों बन रहा है?

बूढ़े कारीगर ने अपने हाथ से हजारों मन्दिरों का निर्माण किया था। वह दार्शनिक की उत्सुकता को समझ रहा था, दार्शनिक का हाथ पकड़ एक ओर ले गया। वहाँ अनेक कारीगर भगवान की मूर्तियाँ तैयार कर रहे थे। दार्शनिक ने सोचा—शायद यही उत्तर मिले, कि भगवान की इन मूर्तियों के लिए''''वह रुक गया।

कारीगर ने दार्शनिक को संकेत किया, वह और आगे बढ़ा। एक श्वेत शिलापट्ट की ओर संकेत करके कारीगर ने कहा—देखा, क्या हो रहा है?

दार्शनिक ने गौर से देखा, उस पर निर्माणकर्ता का नाम-परिचय लिखा जा रहा था। कारीगर ने कहा—'समझे! इसीलिए मन्दिरों का निर्माण होता रहा है, और होता रहेगा।'

दार्शनिक की आँखों में संतोष के साथ मानव मन की विडम्बना पर आश्चर्य भी झलक उठा—'मानव ने धर्म और भगवान पर भी अपने नाम की मोहर लगानी शुरू कर दी।'



२७

सच्चा साधु



जिसने ममता को मार दिया—वह मुनि है। कहा है—

से हु दिट्ठपहे मुणि जस्स नत्थि ममाइयं

—आचारांग १।२।६

वही मुनि सच्चा मोक्ष का द्रष्टा है, अपने पंथ का ाता है, जिसके मन में ममता की गांठ नहीं है।

जो साधु होकर भी धन की आशक्ति में डूबा है, पैसे ा पाजी वना है, वह कैसा साधु ?

एक राजा के जन्मदिवस पर अनेक बहुमूल्य उपहार ाये। राजा बड़ा धार्मिक प्रकृति का था। उसने अपने धान को आदेश दिया कि—आज के उपलक्ष्य में आये हुए समस्त उपहार नगर के साधु संन्यासियों में बाँट दो।

राजा की आज्ञा से प्रधान नगर में साधु संन्यासियों की खोज करने निकला और शाम को समस्त उपहार ज्यों के त्यों लाकर राजा के सन्मुख रख दिए। राजा ने

आश्चर्य के साथ पूछा—यह क्या ? साधु संन्यासियों को नहीं बाँटा ?

प्रधान ने विनम्रता के साथ कहा—'महाराज ! दिन भर नगर में घूमता रहा, पर कोई साधु संन्यासी ही नहीं मिला ? जो वास्तव में साधु हैं, वे तो इन उपहारों को छूते भी नहीं, और जो इन उपहारों की अभिलाषा करते हैं, वे वास्तव में साधु नहीं, अब आप ही कहिए मैं किन को दूं ?'

राजा ने प्रसन्नता के साथ प्रधान को धन्यवाद दिया-वास्तव में ही तुमने साधु संन्यासियों की सच्ची परीक्षा की है। सच्चे साधु को धन से क्या लेना है ?....



२८

समस्या की समस्या

आज समस्याओं का युग है—चारों ओर समस्याएं खड़ी है, मनुष्य उनमें उलझ गया है वैसे ही, जैसे मौत से डरा हुआ पंछी किसी जाल में उलझ जाता है।

पर, सचमुच ही क्या इतनी समस्याएं हैं जितनी हम सोच रहे हैं? हम समस्या को निकट से देखते भी हैं, या केवल समस्या की कल्पना से ही स्वयं को दिग्मूढ़ बना रहे हैं? मेरा विश्वास है, वास्तविक समस्याएं उतनी नहीं हैं, जितनी हमने कल्पना करली हैं। समस्याओं की भी समस्या यह है कि समस्या को निकट से, स्थिर विचार से देखने परखने की आदत नहीं है, किन्तु समस्या का माहोल खड़ा कर उसके कल्पित भय से ही हम अधिकांशतः व्यामूढ़ हुए जा रहे हैं।

एक कहानी है। किसी राजा को एक बुद्धिमान मंत्री की आवश्यकता हुई। उसने राज्य के बुद्धिमान व्यक्तियों की परीक्षाएं ली। अनेक परीक्षाओं के वाद तीन व्यक्ति

चुने गये। अव उन तीन में से भी एक सर्वाधिक बुद्धिमान को चुनने का प्रश्न आया। राजा ने उनके चुनाव-परीक्षण का भी एक दिन निश्चित किया। उन तीनों की परीक्षा की पहली रात को नगर में एक अफवाह उड़ा दी गई कि कल राजा इन तीनों व्यक्तियों को एक कमरे में बंद करेगा, और उस पर एक ऐसा विचित्र ताला लगाया जायेगा जो भीतर से ही खुल सकेगा। वह चावी से नहीं, किन्तु गणित विधि से खोला जा सकेगा। जो गणित में सबसे अधिक प्रतिभाशाली होगा वही उसे खोल सकेगा।

उन तीनों ने भी यह अफवाह सुनी, उसमें से दो व्यक्ति वड़े चिन्तित हो उठे। वे रात भर तालों के संबंध में लिखे गये अनेक शास्त्रों के पन्ने उलटते रहे। और गणित के नियमों को समझने में मगजपच्ची करते रहे। रात भर जगने से उनकी आँखें सूज गई थी, चेहरा धूप खाये फूल की तरह कुम्हला गया था। चिंता और उत्तेजना के कारण उनका मानसिक संतुलन भी विगड़ गया था।

किंतु तीसरा व्यक्ति विल्कुल वे परवाह था। वह रात भर शांति से सोया और सुवह प्रसन्नता एवं ताजगी के साथ उठकर अपने नित्य कर्म में लग गया।

राजभवन में जाने के समय उन दोनों के पाँव डगमगा रहे थे। उनके हाथों में गणित की बड़ी-बड़ी पुस्तकें थीं, आँखें नींद से भारी हो रही थी। पर तीसरा व्यक्ति विना किसी तैयारी के प्रसन्नता के साथ राज भवन

के उस कक्ष में जा पहुँचा, जहाँ वे दोनों पहले से ही बैठे गणित की पुस्तकें चाट रहे थे।

अफवाह सच निकली। उन तीनों व्यक्तियों को एक कक्ष में बंद कर द्वार पर एक विचित्र ताला लगाया गया, जिसपर अंकित गणित के अनेक अंक, व रेखाएं यह स्पष्ट कर रहे थे कि वास्तव में ही यह ताला खोल पाना बड़ी टेढ़ी खीर है, गणित की पहेलियों से जूझे बिना यह ताला नहीं खुल सकेगा। ताला लगाकर घोषणा की गई कि—'जो इस कक्ष का ताला खोलकर सर्व प्रथम बाहर आयेगा वही राज्य का प्रधान चुना जायेगा।'

दोनों व्यक्ति ताले पर लगे गणित अंको के अनुसंधान में जुट गए। बीच-बीच में गणित की पुस्तकें खोल-खोल कर टटोलने लगे। समय कम था, और ताला खोलना बड़ा विकट हो रहा था। भाग्य निर्णय की घड़ी निकट आ रही थी, कुछ ही क्षणों में बारा - न्यारा होने वाला था। चिंता और भय के कारण उन दोनों के सिर पर से पसीने की बूंदे टप टपाने लग गई।

तीसरा व्यक्ति जो अब तक निश्चिंत बैठा था, उसने न कोई गणित की पुस्तक पढ़ी, और न कोई ताले पर लिखे गये अंको का अध्ययन ही किया। वह कुछ देर आँखें बंद किए बैठा रहा। फिर सहसा उठा, धैर्य और शांति के साथ चलकर द्वार के ताले के पास आया। धीरे से उसने ताले पर पंजा लगाकर घुमाया तो बस ताला खुल गया।

वास्तव में वह ताला खुला ही था। ताले की यांत्रिक बातें सब मात्र धोखा थी। पर इसका ज्ञान तो इन तीनों को कहां था ?

वह व्यक्ति द्वार खोल कर जैसे ही बाहर आया—राजा ने उसका स्वागत किया। गणित की पहेलियां बुझाने वाले वे दोनों महानुभाव अब भी आंकड़ों से उलझ रहे थे। राजा को जब अपने सामने खड़ा देखा तो वे अवाक् से रह गये। राजा उनकी ओर देख कर हँसा—'महाशय! समस्या से उलझ तो रहे हो, पर पहले यह भी तो देखना था कि वास्तव में समस्या कुछ है भी या नहीं? जो समस्या को बिना समझे ही उसका समाधान खोजने में जुट जाता है, वह राज्य का प्रधान तो क्या, एक गृहस्थी का कुशल स्वामी भी नहीं बन सकता!'



२९

झंडा और पर्दा

भगवान महावीर का एक नीतिवचन है—

माणेण अहमा गई

—उत्तराध्ययन

अहंकार से अधोगति होती है।

संसार में ऐसी कौन सी विपत्ति है, जो अहंकार से नहीं आती! अर्थात् समस्त विपत्तियों का, दुःखों का मूल अहंकार है। आचार्य शय्यंभव का वचन है—

विवत्ती अविणीयस्स संपत्ति विणियस्स य

—दशवै० ९।२।२२

अहंकारी को विपत्ति और विनम्र को संपत्ति मिलती है। इसलिए तो महर्षि वशिष्ठ ने अहंकार को जगत् के समस्त दुःखों का वीज बताया है—

अहमर्थो जगद् बीजम्

—योगवाशिष्ठ ४।३६

एक बार बादशाह के एक शाही झंडे ने राजमहलों के द्वार पर लगे पर्दे से कहा—'भाई ! तुम तो बड़े भाग्य-शाली हो। देखो, तुम और मैं दोनों एक ही कपास से पैदा हुए हैं, अपने माता-पिता एक हैं, दोनों का स्वामी भी एक है, किन्तु दोनों के भाग्य में कितना अन्तर है। मैं सदा हवा में थपेड़े खाता रहता हूँ। दिन-रात दौड़ लगाते दम-भर आता है, जंगल-जंगल घूमना पड़ता है, कठोर हाथों में, बाँस की शूली पर टंगे-टंगे, युद्ध के मैदानों में शहनाइयों से मेरे तो कान बहरे हुए जा रहे हैं, कितना कठिन और कष्टमय है मेरा जीवन ! धूप, आँधी, वर्षा और सर्दी की मारों से कचूमर निकला जाता है। क्षण भर का चैन नहीं। एक तुम हो, कि रात-दिन महलों की शीतल छाया और ठंडी हवा में आराम से टहल रहे हो। राज-रानियों और दासियों के कोमल हाथों का स्पर्श पा कर मचल रहे हो। मधुर गीतों की झंकार में मस्त हुए झूम रहे हो। कितना सुखमय तुम्हारा जीवन !'

पर्दे ने सुख की ठंडी सांस लेकर कहा—'भाई ! इस का एक छोटा सा कारण है !'

झंडे ने हवा में शिर उठाते हुए पूछा—'क्या ?'

पर्दे ने धीमे से कहा—'तुम हमेशा अपना सिर अहंकार से ऊपर उठाये चलते हो, जबकि मेरा सिर नम्रता के साथ हमेशा नीचे झुका रहता है।'



३०

अंधा कौन ?



आचार्य शंकर से किसी ने पूछा—अंधा कौन ?

आचार्य ने उत्तर दिया—'**अंधो हि को यो विषयानुरागी !**' जिसकी बुद्धि विषयों से ग्रस्त हो गई है, वही अंधा है !

आज के युग में कोई पूछे कि–अंधा कौन ? तो मैं तो कहूंगा —'**अंधो हि को यो निजस्वार्थद्रष्टा**' जो केवल अपना स्वार्थ देखता है, वह द्रष्टा होते हुए भी अंधा है, क्यों कि दूसरों का लाभ और हित देखने की दृष्टि उसके पास नहीं है।

मुझे एक पुरानी कहानी याद आती है। एक नगर में धनाढ्य सेठ रहता था। उसके एक ही संतान थी–एक पुत्री ! और वह भी वड़ी कुरूप ! कुरूप भी ऐसी कि जिसे देखकर कुरूपता भी शर्म से नीचा सिर झुकाले ! कन्या वड़ी हुई तो पिता को उसके विवाह की चिंता लगी। कन्या के विवाह में उसने अपार धन देने की घोषणा की,

पर, कोई भी आदमी उसके साथ विवाह करने तैयार नहीं हुआ। आखिर धन से कुरूपता तो नहीं ढंकी जा सकती।

एक बार एक अंधा दरिद्र नौजवान कहीं से भटकता हुआ धनी के द्वार पर पहुँच गया। धनी ने उसे धन का लालच दिखाया। उसने भी सोचा—कुरूप हो या सुन्दर, आखिर मेरे लिए तो बराबर है, यहां तो भैंस और गाय में कोई फर्क नहीं, फिर रोटी का आराम तो मिलेगा, दरिद्रता चली जायेगी।, अंधे ने उस कुरूप कन्या के साथ विवाह कर लिया।

कुछ दिनों बाद लंका का एक बहुत बड़ा वैद्य उस नगर में आया। वह अंधों की आँखें ठीक कर देता। हजारों अंधों को उसने आँखें देदी थी! नगर में उसकी हलचल मची तो कुछ लोगों ने धनी सेठ से कहा—सेठजी! ऐसा मौका फिर से हाथ नहीं आयेगा, अपने जँवाई की आँखें भी ठीक करवा लीजिए।"

सेठ ने क्रोध में आकर उनको गाली दी—"दुष्टो! क्या तुम यही चाहते हो कि मेरा दामाद ज्यों ही आँखों से मेरी लड़की को देखे तो उसे छोड़कर भाग निकले!"

अंधे ने जब ससुर का उत्तर सुना तो बोला-'चलो अच्छा ही हुआ; इस घर में एक नहीं, दो अंधे मिले। मैं तो आँखों से ही अंधा हूँ, लेकिन मेरे ससुर साहब तो नीयत से भी अंधे हो रहे हैं।'....



३१

कोई रोगी नहीं मिला

आयुर्वेद के आचार्य वाग्भट्ट का एक वचन है—

'कोऽरुक् ?'—अर्थात् स्वस्थ नीरोग कौन है ? उत्तर में कहा है—**'हितभुक् मितभुक् शाकभुक् चैव'**-हितकारी एवं परिमित शाकाहार करने वाला नीरोग रहता है।

महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने स्वस्थ जीवन के उपाय बताते हुए एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात कही है—

हियाहारा मियाहारा अप्पाहारा य जे नरा।
न ते विज्जा तिगिच्छंति अप्पाणं ते तिगिच्छगा॥

—ओघनिर्युक्ति ५७८

जो मनुष्य हिताहारी, मिताहारी एवं अल्पाहारी हैं, उन्हें किसी वैद्य के द्वार खटखटाने की जरूरत नहीं, वे स्वयं अपने वैद्य हैं, अपने चिकित्सक आप हैं।

इसी संदर्भ में फारसी गद्य के जनक शेखसादी की एक कहानी मुझे याद आ रही है।

एक बार ईरान के एक बादशाह ने अपने राज्य के सबसे प्रसिद्ध हकीम को हजरत मुहम्मद मुस्तफा की सेवा में भेजा, इसलिए कि वह हजरत की समय पर सेवा करे, और उनकी प्रजा को स्वस्थ व नीरोग रखने में मदद दे।

कई बरस गुजर गये। हकीम अरब में रहा, पर वहां पड़े-पड़े उस पर सुस्ती छाने लगी, आज तक कोई उसके पास दवा लेने तो दूर, नाड़ी दिखाने भी नहीं आया। किसी ने उससे दवा के लिए पूछा तक नहीं। हकीम परेशान था, वह इतना होशियार, पर यहाँ उसकी होशियारी की किसी ने कीमत भी नहीं की। आखिर उससे रहा नहीं गया, और बादशाह के सामने उपस्थित हुआ— 'हजरत ! मुझे ईरान के शाह ने आपकी सेवा में इसलिए भेजा था कि समय पर मैं आप लोगों की कुछ सेवा कर अपनी विद्या का चमत्कार दिखा सकूं। पर खेद है कि मुझे बीस वर्ष बीत गए, पर कोई मेरे पास नहीं फटका, किसी ने मुझसे कोई दवा दारू की सलाह तक नहीं ली ! आखिर मैं बैठा-बैठा क्या करूँ ?'

हजरत ने मुस्कराकर कहा—'हकीम साहब ! आपका कहना ठीक है, मगर यहाँ के लोगों में दो खराब आदतें हैं। एक तो वे जब तक कड़कड़ाती भूख से बेचैन नहीं हो जाते तब तक कुछ खाते नहीं, और दूसरे खाने को बैठते हैं तो आधे पेट ही उठ जाते हैं, जब पेट काफी खाली रहता है तो खाने से अपना हाथ खींच लेते हैं- इस

दो बुरी आदतों के कारण ही वे कभी आपकी सेवा में हाजिर नहीं हो सके···· !'

हकीम ने शर्म से सिर झुका लिया और कहा—'हज-रत ! आप बिल्कुल सही कह रहे हैं। ये ही तो कुदरत के दो सुनहरे नियम हैं जो मनुष्य के स्वास्थ्य को सदा अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। नीरोग और स्वस्थ जीवन के लिए ये ही दो उपाय हैं, और जब प्रजा स्वयं ही इन नियमों का पालन करती है तो मेरे जैसे हकीमों की यहाँ कोई जरूरत ही नहीं। सब स्वयं ही अपने हकीम हैं।' और ईरान का हकीम बीस वर्ष बाद स्वस्थजीवन का महान् सूत्र सीखकर अपने देश को लौट गया।



३२

ज्ञान का अधिकारी

उपनिषद् का एक वाक्य है—

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको
न येषु जिह्ममनृतं न माया

—प्रश्न उपनिषद् १।१

जिन में न कुटिलता है, न कपट है, और न असत्य है वे ही वास्तव में शुद्ध, निर्मल ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकते हैं।

भगवान महावीर की वाणी में भी यही प्रतिध्वनि गूंज रही है—

धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ—

—उत्तराध्ययन

शुद्ध एवं सरल हृदय में ही धर्म ठहरता है।

जिसका अन्तःकरण सरल एवं निश्छल है, वहीं पवित्रता रहती है, और जहां पवित्रता होती है, वहीं

सत्य, ज्ञान एवं ईश्वर का निवास होता है। इसलिए यह उक्ति सत्य है—सरल हृदय ही भगवान का मंदिर है।

तथागत बुद्ध ने तो कहा है—जो कुटिल आचरण करता है वह चांडाल है और जो सरल हृदय होता है वही ब्राह्मण है, वही ज्ञान प्राप्त करने का सच्चा अधिकारी है।

सत्यकाम जाबाल के नाम से एक जाबालोपनिषद् प्रसिद्ध है। उसमें वर्णन है—एक बार ऋषि हरिद्रुमत गौतम के आश्रम में एक भोलाभाला तेजस्वी किशोर आया। श्रद्धा के साथ ऋषि के चरणों में सिर झुकाकर बोला—'आचार्य ! मैं सत्य और ब्रह्म की खोज करने आया हूं। आप अनुकंपा कर मुझे ब्रह्म विद्या दें। अंधे को चक्षु का दान दीजिए ऋषिवर !'

ऋषि ने गंभीर दृष्टि युवक की भोली सूरत पर डाली। उसकी निश्छल आँखों में अपूर्व निर्मलता थी। ऋषि ने पूछा—'वत्स ! तेरा गोत्र क्या है? तेरे पिता कौन हैं?'

किशोर को न अपने गोत्र का पता था, और न पिता का। वह सकुचाकर नीचा सिर किए खड़ा रहा। और दो क्षण रुककर उल्टे पाँव चल पड़ा।

कुछ समय बाद पुनः किशोर आश्रम में पहुँचा और ऋषि के समक्ष आकर बोला—'आचार्य ! मुझे न अपने गोत्र का ज्ञान है न अपने पिता का ! मेरी माँ भी नहीं

जानती, मेरा पिता कौन है? मैंने अपनी माँ से पूछा, उसने बताया कि युवावस्था में वह अनेक पुरुषों के साथ रमण करती रही है, इसलिए वह भी ठीक-ठीक नहीं बता सकती कि मेरा पिता कौन है। मेरी माँ का नाम जाबाली है, और मेरा नाम सत्यकाम ! मेरी माँ ने कहा है—इसलिए मैंने सब सही-सही आपको बता दिया है, अब मुझे ब्रह्म विद्या सिखलाएं, मैं उसी की खोज में भटक रहा हूं।"

ऋषि इस सरल सत्य से अभिभूत हो उठे। स्नेह गद्-गद् हो उन्होंने सत्यकाम को हृदय से लगा लिया—"तुम सचमुच ही ब्राह्मण हो, ब्रह्म विद्या के अधिकारी हो। जिस हृदय में सत्य की इतनी सरल अभिव्यक्ति होगी, वही तो ब्रह्म विद्या पा सकेगा। उसके लिए गोत्र और कुल कभी बाधक नहीं हो सकते। सत्यवक्ता ही तो ब्रह्म विद्या का सच्चा अधिकारी होता है।

सत्य और ज्ञान पाने के लिए और कुछ नहीं, बस, निर्मल निश्छल हृदय चाहिए।



३३

उठ ! चल पड़ !

जो बैठा रहता है, मंजिल उससे दूर चली जाती है जो चलता है, मंजिल उसके चरणों में स्वयं आकर खड़ी हो जाती है। उपनिषद् का एक वाक्य है—

यदा वै करोति, अथ निस्तिष्ठति

छांदोग्य उपनिषद् ७।२१।१

मनुष्य जब काम करने लगता है तो निष्ठा स्वयं जग जाती है। जो चलने से पहले ही यह सोचता रहे कि इतना लम्बा रास्ता है, मेरे पास साधन कुछ नहीं, कैसे इसे पार कर सकूंगा, वह कभी दो कदम भी नहीं चल सकता। वह मूर्ख यह नहीं सोच पाता कि जितने साधन हैं, उतनी दूर तो चल, आगे और साधन मिल जायेंगे। भविष्य की थोथी कल्पना लिए क्यों डर रहा है ? अपने प्राप्त साधनों का उपयोग कर और चल पड़—

चलते हैं जब चरण स्वयं पथ बन जाता है।

और सुना है तू ने--राम के सामने कितना बड़ा कार्य

था लंका विजय ! समुद्र को पार करना और उस महाबली रावण से लोहा लेना, और सेना क्या थी मुट्ठी भर बन्दर ! रहने को एक गाँव नहीं; शस्त्रों के नाम पर कुछ पुराने जंग खाये शस्त्र ! पर आत्मबल की एक हुंकार ने राम के चरण लंका की ओर बढ़ा दिए, राम ने लंका पर विजय ध्वज फहरा दिया—बानर सेना के बल पर नहीं, आत्मबल पर ! इसीलिए कहा है—

क्रियासिद्धिः सत्वे वसति महतां नोपकरणे

—धैर्यशाली जनों की शक्ति साधनों में नहीं, किन्तु उनके साहस में रहती है। साधन तो स्वयं जुट जाते हैं। जब चल पड़ने का साहस होता है तो मार्ग स्वयं दीख पड़ता है !

एक ऊँचा पहाड़ था। आस पास में उसके विषय में यह जनश्रुति थी कि उसकी चोटी पर भगवान शिवशंकर पार्वती के साथ विराज रहे हैं। दिन निकलने से पहले जो चोटी पर पर पहुंचता है उसे शिव के दर्शन हो जाते हैं।

एक गाँव का भोला किसान रोज अपने खेतों से उस पहाड़ी को देखता और मन ही मन फुदकता उसकी चोटी पर चढ़कर भगवान के दर्शन करने ! पर उसकी चढ़ाई थी दस मील की। और चढ़ने के लिए आधी रात को ही घर से निकल जाना पड़ता था। किसान ने एक दिन शहर से लालटैन खरीदी, तैयारी कर पहाड़ पर चढ़ने की उमंग में रात के बारह बजे ही वह घर से निकल पड़ा। पर, अपने खेत की मेंढ़ तक आया तो उसके पाँव ठिठक

गए। उसके मन में एक दुविधा खड़ी हो गई। रात का घुप्प अंधकार है। चारों ओर सन्नाटा छाया है। और लालटैन का प्रकाश वहुत ही मन्द है, सिर्फ दस कदम ही उससे दिखाई पड़ते हैं, जबकि पहाड़ की चढ़ाई दस मील की है। वह सोचता रहा—इस दस कदम तक पड़ने वाली रोशनी से दस मील कैसे चढ़ा जायेगा ? बस उसका उत्साह ठंडा पड़ गया, वहीं दम डाल के बैठ गया।

तभी एक वूढ़ा हाथ में छोटी सी लालटैन लिए पहाड़ी की ओर जाता उधर से निकला। बूढ़े को रोककर किसान ने पूछा—बाबा, कहाँ जा रहे हो ?

पहाड़ी पर, भगवान के प्रातःकाल के दर्शन करने—बूढ़े ने बड़ी संजीदगी से जबाव दिया।

युवक किसान वोला—"बाबा, चला तो मैं भी था, पर हमारी लालटैन से तो सिर्फ दस कदम तक ही रोशनी पड़ती है, यह दस मील की चढ़ाई कैसे पार पड़ेगी ?"

बूढ़ा उसकी वात पर हँसा—पागल कहीं का ! दस कदम की रोशनी तो काफी है, पहले दस कदम तो चल, फिर देख आगे के दस कदम पर रोशनी और पड़ने लगेगी, जैसे चलेगा, आगे से आगे रास्ता दीखता जायेगा, एक कदम की रोशनी के सहारे तो मैं सारी धरती की परिक्रमा कर आऊँ ! उठ ! चल ! चलने वाले को आगे से-आगे रोशनी मिलती जाती है।"



३४

दूषित भेंट

दान, शील, तप—ये मोक्ष के साधन हैं !

किंतु कब ?

जब वे आत्म शुद्धि के लिए किए जाते हों, यदि इन में लोक दिखावे और प्रतिष्ठा की भावना आगई तो समझिए अमृत भी जहर हो गया। अन्न शरीर को बल देता है, पर कौन सा अन्न ? शुद्ध अन्न ! यदि दूषित अन्न खाया जाय तो वही प्राण नाशक भी बन जाता है।

इसी प्रकार धर्म, दान, पूजा, भक्ति आदि के साथ यदि लोक वासना–दिखावे की भावना आ जाती है तो वे सब शुभ कृत्य भी दूषित अन्न की भांति त्याज्य बन जाते हैं।

एक धनाढ्य सेठ ने भगवान के मंदिर में एक हजार स्वर्ण मुद्रायें अर्पित करने की घोषणा की ! वह उन मुद्राओं की थैलियों को लेकर मूर्ति के समक्ष जाकर बैठ गया। थैलियां जोर-जोर से पटकने लगा ताकि उसकी

खन-खनाहट से सब लोगों का ध्यान उधर ही केन्द्रित हो जाय। हुआ भी ऐसा ही। जब वह स्वर्ण मुद्राएं निकाल कर एक-एक गिनकर मूर्ति के सामने रखता तो बड़ी जोर की आवाज करता। उन्हें देखने के लिए काफी भीड़ जमा हो गई। जैसे-जैसे भीड़ बढती गई, वैसे-वैसे सेठ का आनन्द भी वढ़ने लगा। लोगों की ओर कनखियों से देख-देख कर वह स्वर्ण मुद्राएं चढ़ाता और जैसे आनन्द में उछल पड़ता।

सब मुद्राएं चढ़ाने के वाद उसने गर्व के साथ उपस्थित भीड़ को देखा, उसका सीना फूल रहा था, और फिर पुजारी जी की ओर देखा।

वृद्ध पुजारी सेठ का नाटक देख रहा था, उसने कहा—"सेठ ! ये मुद्राएं वापस ले जाओ, भगवान को नहीं चढ़ सकती।"

सेठ के अहंकार पर जैसे चोट पड़ी, वह गर्जकर वोला—'क्यों नहीं चढ़ सकती महाराज !'

वृद्ध पुजारी ने गंभीर होकर कहा—'कभी दूषित व झूंठी वस्तु भी भगवान को चढ़ती है ? इन मुद्राओं को तुम्हारे अहंकार ने झूंठी करदी है, ये अहंकार की वासना से दूषित हैं, इन्हें हटा लो भगवान के पवित्र मंदिर से·····"



३५

स्वतन्त्रता की झूठी पुकार

भगवान महावीर ने एकबार कहा—

वाया वीरियमित्तेण समासासेंति अप्पयं—

—जो मुँह से धर्म, दया और ईश्वर का नाम लेते रहते हैं, किंतु कर्म में कोरे चिकने घड़े के साथी होते हैं वे केवल धर्म की बातों मे झूठमूठ ही अपने को आश्वस्त करते जाते हैं। वे स्वयं को धोखा देते हैं। सचमुच ऐसे व्यक्ति वचनवीर होते हैं, कर्मवीर नहीं।

आज जिधर भी देखो, ये वचनवीर धर्म की पुकार लगाते सुनाई देंगे। करुणा, सेवा और सदाचार का उद्घोष करके उछलते दिखाई देंगे। देखने सुनने वाला सोचे—अहो! कितने धार्मिक हैं! कितने सदाचारी! कितने भले! पर वास्तव में वे जिस धर्म की बातें करते हैं, वह तो सिर्फ तोता रटंत हैं, धर्म क्या है यह प्रश्न उनके मन और जीवन को कभी छू तक भी नहीं जाता।

एक बार स्वतंत्रता संग्राम का एक सेनानी, किसी जेल से निकल कर अपने घर जा रहा था। रात को वह एक सराय में ठहरा। सराय के मालिक ने एक तोता पाल रखा था। जब स्वतंत्रता आंदोलन की हवाएं चारों ओर मचल रही थीं तो मालिक ने भी अपने तोते को 'स्वतंत्रता' की रट सिखाई।

सुबह पौ फटने से पहले ही तोते ने रट लगाई-"स्वतंत्रता ! स्वतंत्रता ! स्वतंत्रता !" थके मांदे यात्री खुर्राटे भर कर सो रहे थे। पर, वह जेल से आया हुआ स्वतंत्रता प्रेमी जाग रहा था। तोते की रट सुनी तो जेल जीवन की तीव्र पीड़ाएं उसकी स्मृतियों में ताजी हो गई, तब वह भी तीव्र वेदना के साथ चिल्लाया करता था-"स्वतंत्रता ! स्वतंत्रता !" कितना प्यारा शब्द है ! और कितनी पीड़ाएं हैं बंदी जीवन में !

तोता फिर जोर से बोल उठा- "स्वतंत्रता ! स्वतंत्रता !"

उस यात्री को तोते की पुकार असह्य हो उठी। उसे लगा—यह बिचारा भोला पक्षी, इस पिंजड़े में पड़ा कराह रहा है—और आजादी की पुकार कर रहा है। तभी पुनः तोते ने जोर से चीख मारी—स्वतंत्रता ! स्वतंत्रता ! अब तो यात्री जैसे अपनी ही अन्तर वेदना से तिलमिला उठा, वह पिंजड़े के पास आया, तोता जोर-जोर से स्वतंत्रता की पुकार लगा रहा था। उसने पिंजड़ा खोला, पर तोता पिंजड़े के सीखचों को पकड़ कर भीतर ही बैठा रहा,

और स्वतंत्रता—स्वतंत्रता—चिल्लाता रहा।

यात्री ने तोते की टांग पकड़ कर खींचकर बाहर निकाला, और मुक्त आकाश में उड़ाकर एक सुख की साँस ली। उसकी अन्तरात्मा को शांति मिली, कि एक प्राणी को उसने स्वतंत्र कर दिया!

पर, वह अपने विस्तरे पर जाकर सो भी नहीं पाया था कि तोता उड़ता-उड़ता फिर पिंजड़े में घुस गया-और जोर-जोर से चिल्लाने लगा—"स्वतंत्रता! स्वतंत्रता! स्वतंत्रता!"

यात्री ने सिर पर वल लेते हुए कहा—"झूठी है इसकी स्वतंत्रता की पुकार! दंभी! नींद हराम कर रहा है।"

आज के धर्मात्माओं की धर्म-पुकार भी क्या ऐसी नहीं है?



३६

दिल बदल !



निर्ग्रन्थ परम्परा के महान् तत्त्वज्ञानी गणधर इन्द्र-भूति से एकबार श्रमण केशीकुमार ने पूछा—'कोई श्रमण रंगीन वस्त्र पहनता है, कोई सफेद और कोई पहनता ही नहीं, इस विभिन्नता का क्या कारण है ? एक ही मार्ग के अनुयायी इस तरह अलग-अलग दिशाओं में क्यों चलते हैं ?'

इन्द्रभूति तत्त्वज्ञान की गहराई में डुबकी लगाते हुए बोले—न तो वस्त्र रखने से मुक्ति अटकती है, और न वस्त्र उतारने से मुक्ति मिलने की ही कोई निश्चिति है, वस्त्र तो मात्र एक आवरण है देह की लज्जा के लिए ! —लोगों को सहज परिचय देने वाला एक परिवेष है—एक चिन्ह है।

भगवान महावीर ने इसी वात को एकवार यों प्रकट किया था—

कुसचीरेण न तावसो —उत्त० २५।३२

वल्कल, वृक्ष की छाल ओढ लेने से ही कोई तपस्वी नहीं हो जाता। तपस्वी तो वह होता है जिसने अन्तर मन को तपाया हो, जीवन को तपाया हो।

वाहरी वेष विन्यास की विडम्वना दिखाते हुए एक बार तथागत ने कहा था—

किं ते जटाहि दुम्मेध! किं ते अजिनसाटिया ?

—धम्मपद २६।१२

मूर्ख ! जटाओं से और मृग छालाओं से तेरा क्या भला होगा ? जब मन के गहन-गह्वर में राग-द्वेप का मल भरा पड़ा है तो वाहर क्या धोता है ?

वास्तव में ही वेष वदलने के साथ यदि राग-द्वेप नहीं छूटा, बाना बदलने के साथ 'वाण' (आदत) नहीं वदली तो शेखशादी की वही वात होगी कि शेर की खाल ओढ लेने से भेड़िया शेर नहीं वन सकता !

एक वार संत अवुहसन के पास एक व्यक्ति आया और गिड़गिड़ाकर वोला—'ऐ मेरे दरवेश ! मैं वड़ा पापी और जुल्मगार रहा हूं। अव मुझे अपने पापों से घृणा हो रही है, मैं सन्यासी का पवित्र जीवन जीना चाहता हूं, कृपा कर आप अपना यह पवित्र वस्त्र मुझे दे दीजिए ! वस, मेरा उद्धार हो जायगा।' उसने गिड़गिड़ाते हुए अपना सिर संत के चरणों में रख दिया और आंसुओं से भिगोदिया संत के चरणों को।

संत ने उसका सिर प्यार से उठाया, और—'बोले मैं तुम्हें अपने वस्त्र दूँ उससे पहले–क्या तुम मेरी एक बात का उत्तर दोगे ?'

वह व्यक्ति तो बस एक ही याचना किए जा रहा था 'मुझे अपना पवित्र बाना दे दो, मेरा कल्याण हो जायगा। संत ने फिर उसी प्यार से कहा—'मित्र ! तुम्हारी इच्छा पूरी करूँगा, पर पहले मेरे एक सवाल का उत्तर तो दे दो।'

वह व्यक्ति आशा भरी नजर से ऊपर देखने लगा। संत ने कहा—क्या कोई स्त्री पुरुष के वस्त्र पहन लेने से पुरुष हो सकती है, या कि कोई पुरुष स्त्री के वस्त्र पहन कर स्त्री बन सकता है ?

'नहीं'··· मेरे दरवेश ! पर····

हँसकर अबुहसन बोले—"तो लो ये मेरे वस्त्र···· और वस्त्र ही क्यों; मेरे शरीर की खाल भी ओढ लो तो क्या होगा····?" हसन ने उस व्यक्ति की ओर देखा, वह स्वयं की भूल पर पछता रहा था, हसन ने कहा—'फकीर का वस्त्र पहनलेने से कोई सितमगर फकीर नहीं हो सकता, फकीरी के लिए तो दिल बदलना पड़ता है, कपड़े नहीं····।"

तू पवित्र जीवन जीना चाहता है तो दिल बदल ! कपड़े बदलने से क्या होगा ?



३७

तुम कौन ?

०

एक वार एक सम्राट अपनी राजधानी की गलियों में अकेला घूम रहा था। सांझ का झुरमुटा हो गया था, अंधेरा घिर रहा था। एक संकड़ी-सी गली में सम्राट निकल रहा था कि सामने से एक बूढ़ा संन्यासी लकुटिया टिकाए आ रहा था। गली में दोनों टकराए। सम्राट को जोर का धक्का लग गया तो वौखला कर वोला—"ऐ कौन हो तुम ?"

संन्यासी की तेजस्वी आँखों ने सम्राट की गर्वोन्नत काया को पहचान लिया, और लापरवाही से वोला–"एक महान सम्राट !"

सम्राट का क्रोध और भी भड़क उठा, साथ में आश्चर्य भी ! यह कोई बूढ़ा सन्यासी अपने आपको-एक महान् सम्राट वता रहा है....? सम्राट को उसकी मूर्खता पर हँसी भी आ रही थी। उसने व्यंग के स्वर में पूछा–'किस भूमि पर आपका राज्य है ?'

सन्यासी ने कहा—"स्वयं पर ही।"

सम्राट ने बात को दुहराया–'अच्छा ! सम्राट ! तो मैं कौन हूँ ?'

'तुम एक गुलाम !'

'किस का ?'

'अपने आपका ?'

सम्राट आगबबूला हो उठा। उसने सन्यासी को पकड़ कर जेल में वन्द कर दिया और सुबह राज सभा में उसके रात्रि के व्यवहार पर रोष प्रकट करते हुए पूछा —'तुमने स्वयं को सम्राट कैसे कहा ?'

सन्यासी ने उत्तर दिया—"मैंने अपनी वासना और इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर ली है। तुमने मुझ पर क्रोध किया और जेल में वन्द कर दिया तब भी मेरे मन में तुम्हारे लिए कोई रोष नहीं है किन्तु तुम सम्राट होकर भी अपने क्रोध को नहीं जीत सके, थोड़ा-सा छू जाने पर भी यों बौखलागए जैसे सांप छू गया हो, तो फिर सम्राट कहां हुए ? अपनी वासना और विकारों के तो गुलाम ही रहे।"

सम्राट ने सन्यासी के सामने सिर झुका लिया।

वास्तव में जिसने अपने अहंकार और क्रोध को जीत लिया वही सच्चा विजेता है।

शंकराचार्य से किसी ने पूछा —"विश्व विजेता की

क्या परिभाषा है ?' **जितं जगत्केन ?**

आचार्य ने उत्तर दिया—**मनोहि येन ?** जिसने मन को जीत लिया उसने जगत को जीत लिया।

महर्षि वशिष्ठ के शब्दों में—

अहमर्थो जगद् बीजम् —योग वा० ४।३६

अहंकार ही जगत है। अहंकार, क्रोध (कषाय) को जीतना ही परम विजय है—**एस सो परमो जओ**—वस, यही परम जय है।



३८

मृत्यु नहीं चाहिए



कभी-कभी एक विचार बिजली की तरह मन में कोंध जाता है–मनुष्य कितना भी दुःख और संकट में पड़ा हो, कितनी ही वेदना और यंत्रणा से तड़प रहा हो, पर फिर भी वह चाहता है—"जीता रहूँ। कुछ दिन और जी लूं !" क्या यह जीवन का मोह नहीं है ?

फिर सोचता हूं—"कुछ मनुष्य जीवन की पीड़ाओं से घबरा कर आत्महत्या क्यों कर लेते हैं ? अनेक लोगों को दुःख की ज्वालाओं में जलते यह पुकार लगाते सुनता हूँ—"हे परमात्मा ! अब तो उठा ले ! मौत क्यों नहीं आती ? इस जीने से तो मरना अच्छा !" क्या वे सचमुच जीवन से निर्मोह हो गए हैं ?

कुछ गहराई में उतरता हूँ और उनके अवचेतन को टटोलता हूँ तो पाता हूं–दोनों में ही एक समान जीने की तीव्र इच्छा है। मौत-मौत पुकारने वाला भी मौत की कल्पना से सिहर उठता है। जीवन को दुत्कारना सरल

है, मौत को पुकारना भी आसान है, किन्तु मौत से प्यार करना—कठिन, बहुत कठिन है। दीर्घदर्शी भगवान महावीर ने यही तो कहा था—संसार में एक छोटे से छोटा जन्तु-कीड़ा और स्वर्ग का अधिपति इन्द्र—दोनों में ही जीने की आकांक्षा समान है—"**अप्पियवहा, पिय जीविणो**"—उन्हें वध-मृत्यु अप्रिय है, जीवन प्रिय है, इसलिए किसी का जीवन मत लूटो।

एक पुरानी कहानी है,कई बार संतों के मुंह से सुनी है। एक लकड़हारा बड़ा दुःखी था, लकड़ियां काटते-काटते हाथ भी लकड़ी हो गए थे, सिर पर भार ढोते-ढोते केश और टाट घिस गयी थी। बचपन से बुढ़ापा आ गया, हिलते-चलते पांव डगमगाने लगे थे, फिर भी विचारे की दशा नहीं बदली, अब भी उसे एक मुट्ठी चना तभी मिलता जब लकड़ियां काटकर ले जाता, उन्हें बेचता। जीवन की इस कठोर यातना से वह हार गया। एक दिन भारी बांधते-बांधते उसे अपनी दुर्दशा पर रोना आ गया, और वह दुःखावेग में पुकार उठा—"हे परमात्मा! मुझे इन कष्टों को झेलते रहने के लिए इतनी लंबी जिंदगी क्यों दे दी! क्या मेरा मृत्यु पत्र तुम्हारी फाइल में कहीं दब गया? मुझे क्यों नहीं उठालेते—इस जिन्दगी से मौत बेहतर है…!"

कहते हैं लकड़हारे ने जैसे ही पुकारा पीछे से एक अत्यंत ठंडा पंजा उसके गले पर पड़ा। वह चीख उठा—कौन है?

'तुमने मुझे अभी पुकारा था'–पीछे से आवाज आई।

उसका गला दबता चला गया, उन हाथों में जैसे वर्फ थी, बुड्ढा—कांपने लग गया, और भय के मारे पसीने की धाराएं छूट गई। "नहीं! नहीं!—मैंने तुमको नहीं पुकारा, तुम कौन हो?"

तभी एक भयानक आकृति उसके सामने आ गयी! "मैं मृत्यु हूँ, अभी तुमने परमात्मा से प्रार्थना की, इसलिए मुझे तुम्हें उठाने के लिए भेजा गया है।"

बुड्ढे ने होश संभाला, और हाथ जोड़ कर बोला—'ओह! भूल गया! मुझे नहीं उठाना है, कृपा कर इस भारी को मेरे सिर पर उठवा दीजिए.. इसीलिए पुकारा था.. अव कभी नहीं पुकारूंगा.. और पुकारूं तो कृपया आने का कष्ट मत करना…!"



३६

एक दोष !

●

बुराई एक भी बुरी होती है। छोटे से छोटा दीखने वाला दुर्गुण भी जीवन को दूषित कर डालता है जैसे छोटी सी चिनगारी लाखों मन रुई के ढेर को भस्म कर डालती है। एक छोटा सा काँटा छह फुट के विशाल शरीर में बेचैनी पैदा कर देता है, एक छोटा सा फोड़ा पूरे शरीर को रोगी बना डालता है, तो फिर एक दोष, एक दुर्गुण जीवन में क्या-क्या नहीं कर डालता होगा ?

महान् श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—

अणथोवं वणथोवं अग्गिथोवं कसायथोवं च
ण हु भे वीससियव्वं थोवं पि ते बहुं होई।

—आव० नि० १२०

ऋण (कर्ज) व्रण (घाव) अग्नि और कषाय—यदि इनका थोड़ा सा भी अंश विद्यमान है तो उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। ये अल्प भी समय पर विस्तार पाकर भयंकर बन जाते हैं।

कहते हैं एक बार राजा भोज अपने सामंतों एवं सेनापतियों के साथ बैठा था। संगति के कारण राजा का भी आकर्षण 'मद्यपान' की ओर हो रहा था। यह दुर्गुण आता देखकर कालिदास चौंक उठा। उसने राजा को सावधान करने की दृष्टि से एक भिक्षुक का वेष बनाया और फटी-टूटी गुदड़ी शरीर पर डाले राजा की सभा में प्रवेश किया।

राजा ने भिक्षुक की सहस्रों छेदवाली कंथा देखी तो कहा—"भिक्षुक ! तुम्हारी यह कंथा तो बहुत जीर्ण हो गई है, इसमें तो छेद ही छेद हो चुके हैं।"

भिक्षुक ने हँस कर कहा—"महाराज ! यह कंथा नहीं, मछलियाँ पकड़ने का जाल है।"

राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा—"क्या ? तुम मछलियाँ भी पकड़ते हो ?"

"हाँ, महाराज ! खाने के लिए....!"

"तो तुम मछलियाँ खाते भी हो....?"

'हाँ, महाराज ! शराब जो पीता हूँ तो माँस भी चाहिए !' भिक्षुक ने सहजभाव से उत्तर दिया।

राजा की आँखें फटी-सी रह गई। "क्या तुम शराब भी पीते हो....? कैसे भिक्षुक हो तुम....?"

"महाराज ! वैश्याओं के साथ जो रहता हूँ, वहाँ तो बिना शराब और माँस के आनन्द ही नहीं आता....!"

"ऊफ ! भिक्षुक होकर भी यह सब....? आखिर इतना पैसा कहाँ से आता है तुम्हारे पास....?"

भिक्षुक ने जरा हँसकर कहा—"महाराज ! इसमें रहस्य की क्या बात है ? रात में चोरी करता हूँ, दिन में जुआ खेलता हूं....वस पैसे की क्या कमी....?"

राजा तो आश्चर्य में डूबा जा रहा था। भिक्षुक का वेष, और इतनी दुर्वृत्तियां ! शिकार, मद्य, मांस, वेश्या-गमन, जुआ और चोरी ! आखिर सब दोष एक ही जगह आ गये।

राजा के आश्चर्य को भंग करते भिक्षुक ने कहा—"महाराज ! ऐसा तो होता ही है, जब एक दोष आ जाता है तो सब दोष अपने आप आ जाते हैं। मैंने मद्यपान शुरू किया और धीरे-धीरे ये सब दोष आ गये अब छूटते नहीं....! इसीलिए तो कहावत है—**छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति**—एक सुराख हजारों सुराख पैदा कर देता है। इसलिए प्रारम्भ में ही छोटे से छोटे दोष को बड़ा समझना चाहिए।"

राजा को लगा, जैसे भिक्षुक ने एक रहस्य खोलकर रख दिया है। उसके सामने एक बहुत बड़ा उपदेश सुना दिया है, और सावधान करदिया है किसी भयंकर खतरे से....

कुछ दिन बाद कालिदास ने अनुभव किया, उसके नाटक का परिणाम सफल रहा, राजा भोज अपनी मर्यादा में पुनः स्थिर हो गया है।



४०

स्मृति और विस्मृति



आज कुछ लोगों को स्मृति का रोग है, कुछ को विस्मृति का। देखता हूं, जो बातें याद नहीं रखनी चाहिए जो स्मृति का कूड़ा करकट है, भार है, उसे तो लोग स्मृति पर ढो रहे हैं; और जो वास्तव में ही स्मृति को सचेतन रखने वाली बातें हैं, जिनमें जीवन का आदर्श भरा है उन्हें भुलाये जा रहे हैं !

आप सोचते होंगे—"क्या याद रखना चाहिए, क्या नहीं रखना चाहिए इसका कोई शास्त्र है ?

'है !' मेरी भाषा में ही नहीं, हजारों वर्ष पुरानी भाषा में भी हैं। सुनिए यह प्रसंग।

ग्रीस का महान् तत्त्ववेत्ता अफलातू जीवन की अंतिम शैय्या पर सोया था। तव कुछ लोग उनके पास आये और वोले–"जाते-जाते हमें कुछ बताते जाइए !"

अफलातू ने कहा–"गाँव के सब लोगों को जमा करो, फिर मैं अपनी वात कहूंगा।"

गाँव के सैंकड़ों स्त्री-पुरुष दार्शनिक संत की अंतिम सीख सुनने को एकत्र हुए।

अफलातू ने कहा—देखो मेरे आज तक के उपदेशों का सार है ये चार बातें :—

१. यदि कोई तुम्हारे साथ कभी बुरा बर्ताव करे तो तुरन्त भुला देना चाहिए! इससे तुम क्षमा करना सीखोगे!

२. यदि तुमने किसी की भलाई की हो, उपकार किया हो, तो उसे भी भुला देना चाहिए। इससे जीवन में उदारता व सरलता आयेगी।

३. जिसने भी जन्म लिया है, उसे एक दिन मरना भी होगा, इस बात को हमेशा याद रखना चाहिए। इससे तुम जीवन में सदा जागरूक रहोगे।

४. तुम्हारे लिए जो कुछ अच्छा है, और बुरा है, उसको करने वाले तुम स्वयं ही हो, अपना भाग्य अपने हाथ में है, इस बात को सदा याद रखना चाहिए। बस यही सब सफलताओं का मूल मंत्र है।

लोगों ने उपदेश को सर आँखों पर चढ़ाया, और कहते हैं उसके बाद अफलातू ने दोनों हाथ ऊँचे उठाकर विदा मांगी, वह सचमुच विदा होगया!

आज भुलाने वाली बातों को मनुष्य रट-रट कर याद किये जा रहा है, और याद रखने वाली बातें कब से भूल चुका है····?



४१

झूठी प्रीत

•

संसार का स्नेह और प्रेम वास्तव में कांच की बोतल के समान है, जो संदेह की जरा-सी ठेस लगते ही टूट जाता है। उस स्नेह में पद-पद पर शंका, भय और अविश्वास के कांटे बिछे रहते हैं। स्वार्थ की दुर्गन्ध छिपी रहती है। तथागत बुद्ध ने इसीलिए कहा था—

स वे मित्तो यो परेहि अभेज्जो

—सुत्तनिपात २।१५।३

मित्र और मैत्री की कसौटी यही है कि वह पर—शंका, संदेह आदि से कभी भंग न हो। जो शंका, संदेह एवं अविश्वास की ठोकर से टूट जाती है, वह मैत्री-झूठी है, ज्ञानीजन उस मैत्री पर कभी आश्वस्त नहीं होते!

गुजरात के प्रसिद्ध ओलिया संत अखा, अपने पूर्व जीवन में अहमदाबाद में स्वर्णकार का धंधा करते थे। सुनार की ठगी प्रसिद्ध है, पर उससे भी ज्यादा प्रसिद्ध थी

अखा की ईमानदारी। अपने जीवन में उसने कभी भी किसी के सोने में कुछ वेईमानी नहीं की।

एक सद्‌गृहणी के साथ अखा का वहन जैसा पवित्र स्नेह था। उस वहन ने एक वार अखा को तीन सौ रुपये दिए और एक सुन्दर कंठमाला वना देने के लिए कहा।

अखा ने वहन का काम पूरी आत्मीयता के साथ किया, उसमें सौ रुपये का सोना अपनी ओर से भी मिला दिया और सुन्दर कंठमाला तैयार कर के वहन को दी।

कंठमाला का वजन अधिक देखकर वहन के मन में वहम का भूत घुस गया। सोचा, अखा आखिर सुनार ही तो है, हो सकता है इसका वजन वढ़ाने के लिए कुछ और चीज मिलादी हो। वह दूसरे सुनार के पास दौड़ी गई और कंठमाला के सोने की परीक्षा करवाई!

सुनार ने परीक्षा करके वताया—यह सोना तो विल्कुल शुद्ध है, तुमने कितने में वनवाई है?

वहन ने कहा—'मैंने तो अखा को तीन सौ रुपये दिये थे!"

सुनार ने हँसकर कहा-"वावली! अखा पर भी वहम करती है? इस में तो चार सौ रुपये का सोना है, और मजूरी के रुपये अलग!"

वहन को अपने झूठे वहम पर पश्चात्ताप हुआ। वह दौड़कर अखा के पास गई और रोती हुई अपनी आप सुनाई। सुनते ही अखा की आँखें खुल गईं!

सचमुच यह संसार संदेह और अविश्वास से भरा है। हर बहन-भाई और पति पत्नी का स्नेह संदेह की ठेस से काँच की बोतल की तरह कब टूट जाये कोई विश्वास नहीं। जिस बहन के लिए उसने अपनी गांठ के सौ रुपये लगाए, वह बहन भी सोचती है—उसने अवश्य सोने में खोट मिलाई होगी, आखिर सुनार जो है।

उसी दिन अखा घर छोड़ कर जँगल की ओर चला गया। संसार की झूठी प्रीति तोड़कर उसने प्रभु से सच्ची प्रीति लगायी।



४२

मन को मांजो

•

कुछ विचारक कहते हैं—"मन पापी है, दुष्ट है, इसको मार डालो !" किंतु 'पापी मन को मार डालना-मन का उपचार नहीं है।' जैनदर्शन कहता है—मन को मारो नहीं, सुधारो ! मैले वस्त्र को फाड़ कर मत फेंक दो, उसे धोकर उजला बनाओ। ज्ञातासूत्र (१।५) में भगवान महावीर ने कहा है—"जैसे रक्त से सना वस्त्र पानी से धोने पर उजला हो जाता है, वैसे ही मन को (आत्मा को) शुभ भावनाओं के स्वच्छ जल से प्रति-पल धोते रहने से वह उज्ज्वल हो जाता है।"

इसीविचार को प्रकारान्तर से बौद्ध ग्रन्थ अभिधम्म पिटक में यों कहा है—

अनुपुब्बेन मेधावी थोकं-थोकं खणे-खणे ।
कम्मारो रजतस्सेव निद्धने मलमत्तनो ॥

जैसे सुनार चाँदी के मैल को धीरे-धीरे साफ करता रहता है, वैसे ही बुद्धिमान साधक आत्मा के मल को, थोड़ा-थोड़ा करके साफ करता रहे, जिससे कि मन उज्ज्वल एवं निर्मल वन जाय।

साधक को मन को प्रतिक्षण शुभ कामनाओं से निर्मल करते ही रहना चाहिए। यदि उसके प्रति उपेक्षा कर दी गई तो जैसे निकम्मी तलवार जंग खा जाती है, और अनुपयोगी वस्त्र पड़े-पड़े मलिन हो जाते हैं वैसे ही शुभ-भाव-शून्य मन पाप से भर जाता है।

रामकृष्ण परमहंस से एक श्रद्धालु ने पूछा—आप तो पहुँचे हुए योगी हैं, फिर ध्यान आदि प्रतिदिन करते रहने की क्या जरूरत है?

परमहंस ने अपना कमंडलु हाथ में लेते हुए वताया—'यह कितना साफ है, चमक रहा है न? क्यों?' स्वयं ही प्रश्न का समाधान देते हुए आगे कहा—"मैं इसे प्रतिदिन साफ करता रहता हूं। यदि एक बार साफ करके रख दूं और फिर इसकी संभाल न करूँ तो क्या यह इतना स्वच्छ व चमकदार रह सकता है? इसीप्रकार आत्मा को जो कि शरीर के साथ रह रहा है, साधना के द्वारा यदि शुद्ध व निर्मल नहीं किया जाय तो वह भी मलिन हो जाती है। मन को चांदी की भांति जितना मांजा जाय, उतना ही निर्मल रहता है।"



४३

अपनी छाया



एक ऋषि ने मनुष्य की अनन्त सुप्त शक्ति को उद्-बोधित करते हुए कहा है—

विशं विशं मघवा पर्यशायत —ऋग्वेद १०।४३।६

प्रत्येक मनुष्य के भीतर इन्द्र (अनन्त ऐश्वर्य) सोया पड़ा है। पर मनुष्य है कि वह बाहर ही बाहर ऐश्वर्य की खोज में दौड़ रहा है।

स्वामी रामकृष्ण ने एक जगह लिखा है—"ऋद्धि और संपत्ति छाया की तरह मनुष्य का अनुगमन करती है। जो मनुष्य छाया को पकड़ने की चेष्टा करता है, छाया उससे दूर भागती है, जो अपने को पकड़ लेता है, छाया स्वयं उसके अधिकार में आ जाती है।"

आठवीं कक्षा का एक बालक विद्यालय से अपने घर आ रहा था। हाथ में पुस्तकों का बस्ता लिए वह चल रहा था और पीछे काफी लम्बी मचलती हुई छाया उसका

अनुगमन कर रही थी। बालक को घूमती-फिरती छाया देखकर आश्चर्य हुआ। वह एक जगह खड़ा हो गया, छाया भी खड़ी हो गई। वह एक जगह बैठा, छाया भी बैठ गई। वह दौड़ने लगा तो छाया भी पीछे-पीछे दौड़ने लगी। वह छाया को पकड़ने का प्रयत्न करने लगा, पर छाया तो उसके पीछे खिसक जाती। वह हैरान था, और रास्ते में ही इधर-उधर पागल जैसे भटकने लगा।

विद्यालय की छुट्टी कर उसका अध्यापक भी उसी रास्ते आ रहा था। बालक का यह पागलपन देखकर उसने पूछा—"रमेश! क्या कर रहे हो?"

"सर! मेरे पीछे यह छाया चल रही है, इसका सर पकड़ना चाहता हूँ, पर यह हाथ ही नहीं आ रही है।"

अध्यापक ने बालक को समझाते हुए कहा—'रमेश! छाया को पकड़ने के लिए दौड़ने पर छाया कभी हाथ नहीं आती। इसे पकड़ना चाहते हो, तो एक तरीका है।'

"सर! क्या तरीका है, जल्दी बताइए!"—बालक ने कुतूहलपूर्वक पूछा!

"तुम अपना सिर पकड़कर खड़े हो जाओ!"

बालक ने ज्यों ही अपना सिर पकड़ा, उसने देखा, छाया ने भी अपना सिर पकड़ लिया है। वह किलकारी मार कर हंस पड़ा—'वाह! सर! बहुत अच्छा! अपना सिर पकड़ने से ही छाया का सिर पकड़ में आ जाता है।'

बालक का यह अनुभव अध्यात्मज्ञानियों का सच्चा जीवन दर्शन है, जिसने अपने आपको पकड़ लिया, स्वयं पर नियन्त्रण कर लिया, छाया की भाँति पीछे-पीछे चलने वाली संसार की समस्त विभूतियां स्वयं ही उसके वश में हो जाती हैं।



४४

जैसी दृष्टि : वैसी सृष्टि

एक प्रसिद्ध सूक्ति है—

अंधकारो अपस्सतं–

(सुत्त निपात ३।३८।४०)

अंधो के लिए चारों ओर अंधकार ही अंधकार है।

कहावत है–सावन के अंधे को सब दुनिया हरी-हरी दीखती है, और पतझड़ के अंधे को दुनियां वीरान लगती है।

जिसने आँखों पर काला चश्मा लगाया है, उसे उज्ज्वल जलधारा भी काली मटमैली दिखाई देगी और जिसकी नजर साफ है, वह हर वस्तु को उसके असली रूप में देख सकता है।

जिसके मन में ईर्ष्या, द्वेष एवं घृणा भरी है, उसे संसार में कहीं प्रेम, सद्भाव और सद्गुण दिखाई नहीं दे सकता। और जिसका अन्तःकरण स्नेह, सद्भाव एवं

गुणानुराग से छलछला रहा है, उसे कहीं भी द्वेष, और शत्रुता का दर्शन भी नहीं हो पाता।

भला सर्वत्र भलाई देखता है, बुरा बुराई। एक संस्कृत सूक्ति है–

सरलः पश्यति सकलं सर्वं सरलेन भावेन।

सरल सब कुछ सरल भाव से सरल ही देखता है, और कुटिल सबको कुटिल मानता है।

महाभारत युग की एक घटना है–श्रीकृष्ण ने एक बार धर्मराज युधिष्ठिर को एक काम सोंपा–"धर्मराज ! तुम द्वारिका के समस्त दुर्जनों की एक तालिका बनाकर लाओ !" धर्मराज ने योगेश्वर की आज्ञा शिरोधार्य कर अपना काम प्रारम्भ कर दिया।

उधर दुर्योधन को भी श्रीकृष्ण ने एक आदेश दिया- "नगर के समस्त सज्जनों की सूची तैयार करके लाओ।' और दुर्योधन भी जुटगया अपने कार्य में।

कुछ दिनों वाद दोनों ही खाली सूची पत्रक लिए श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुए। श्रीकृष्ण ने पूछा— "युधिष्ठिर ! क्या तुमने अपना कार्य पूरा कर लिया ?"

विनय और संकोच के साथ धर्मराज ने कहा–"महाराज ! अब तक तो मुझे ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं मिला जिसे सचमुच दुर्जन कहा जा सकता हो, मैं देखता हूं, तो हर जन में सज्जनता के दर्शन होते हैं, फिर कैसे उसे दुर्जन की सूची में चढाऊं।"

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन की ओर प्रश्न भरी नजर उठाई। दुर्योधन ने क्षोभ प्रकट करते हुए कहा–"महाराज! सज्जनता तो जैसे लुप्त हो गई है। जिसे भी देखता हूँ, ऊपर से सज्जनता और भलाई का आवरण ओढ़े हजारों लोग दुर्जन की आत्मा लिए घूमते हैं। फिर किसका नाम सज्जन में लिखूं और किसका दुर्जन में।...."

दो विपरीत अनुभवों का मूल कारण था, दो विपरीत दृष्टियां। धर्मराज को जिस संसार में कोई दुर्जन नहीं मिला, उसी संसार में दुर्योधन की दृष्टि में कोई सज्जन नहीं था।



४५

बादशाहत का मूल्य

तथागत बुद्ध जब अंतिम महाप्रयाण कर रहे थे तब उपस्थित जन समूह को अपना दिव्यसंदेश देते हुए एक वचन कहा—

वयधम्मा संखारा अप्पमादेन सम्पादेथा !

—दीघनिकाय. २।३।२३

संसार में जो भी वस्तुएं हैं वे सब क्षणिक हैं, नाशवान् है। अतः उनपर अहंकार एवं आसक्ति न करके अप्रमाद पूर्वक अपना जीवन लक्ष्य साधते रहो।

वास्तव में जो भौतिक वस्तु, वैभव एवं साम्राज्य नाशवान् है, उसका अविनाशी जीवन के लिए क्या मूल्य हो सकता है ? चक्रवर्ती का साम्राज्य भी जब क्षणिक है, तो उसका अहंकार कैसा ? और कैसी उस पर आसक्ति ?

कहते हैं, अरब के बादशाह हादर रशीद को अपनी बादशाहत का बहुत अभिमान था। उसका अभिमान

हटाने के लिए एक बहुत प्रसिद्ध संत (फकीर) ने एक दिन बादशाह से पूछा–"जहाँपनाह ! यदि कभी आप ऐसे रेगिस्तान में चले जाँय, जहाँ पर मीलो में न कोई आदमी दिखाई दे और न कहीं पानी ! मारे प्यास के प्राण निकलने लगे तब कोई आदमी जिसके पास सिर्फ आधा सेर पानी हो, वह आपसे आधा राज्य लेने की शर्त लगा कर पानी पिलाए तो क्या आप वह शर्त मंजूर कर सकते है ?"

बादशाह ने कहा–"उस समय तो जो वह कहे, करना ही पड़ेगा, प्राणों से बढकर वादशाहत नहीं है !"

फकीर ने जरा गंभीरता का आवरण हटा कर कहा–"जहाँपनाह ! जो वादशाहत सिर्फ आधा सेर पानी के लिए बिक सकती है, क्या वह कोई अभिमान करने जैसी चीज है ?" गरीबी और अमीरी में कितना सामान्य अंतर है—सिर्फ एक घंटा की प्यास ! एक गिलास पानी का।

फकीर की बात पर वादशाह को अपनी भूल महसूस हुई और उसका अभिमान काफूर हो गया।



४६

शब्द नहीं, भावना



शब्द मिट्टी का दीया है, भावना उसकी ज्योति है। जो ज्योति की अवगणना कर 'दीये' को महत्व देता है, वह चेतन्य की अवमानना कर जड़ की पूजा करता है।

चेतना के क्षेत्र में, भावना के जगत में शब्द सिर्फ चोला है, तलवार की म्यान है, वहाँ चोले और म्यान का कोई मूल्य नहीं—

मोल करो तलवार का
पड़ा रहन दो म्यान !

एक बार राम जब वनवास में घूम रहे थे तो निषादों का राजा 'गुह' उनका भक्त बन गया था। वह न अधिक पढ़ा लिखा था, न वाणी का शिष्टाचार और सुन्दर बाह्याचार का ही उसे ज्ञान था। उसका हृदय सरल, और राम के प्रति अत्यन्त भक्ति-परायण था।

निषादराज कई बार प्रेमातिरेक में राम को 'तू' शब्द

से पुकारता था। निषादराज का यह असभ्य व्यवहार लक्ष्मण को बहुत अखरता। एक दिन वे क्रोधित हो गये, और उसे पीटने के लिए तैयार हो गए।

राम ने लक्ष्मण को समझाते हुए कहा—'लक्ष्मण! तू जड़ शब्दों में उलझ रहा है, पर उसकी भावना की मधुर सौरभ को नहीं पहचान पा रहा है। इसके मुंह से प्रेमपूर्वक निकला हुआ 'तू' शब्द मुझे सहस्रों 'आप' शब्दों से भी अधिक प्रिय लगता है। क्या तुम नहीं देख रहे हो, उसकी भावनाओं में भक्ति और स्नेह की कितनी जबर्दस्त हिलोर है? यह हिलोर शब्दों में नहीं बंध सकती, इसमें भावना का वेग हैं, तुम उस वेग को समझो!' राम के समझाने पर लक्ष्मण ने शब्दों की पकड़ से निकल कर भावना के मधुर-मधुर जगत् में झांका तो वे स्वयं ही भाव-विभोर हो उठे।



४७

धर्म का गौरव



धर्म आत्मा की दिव्यता है, जाति, वर्ण एवं कुल की सीमाएं उसके तेज को मंद नहीं कर सकती।

क्या ऐसा होता है कि ब्राह्मण कुल की अग्नि अधिक तेजस्वी हो, और चंडाल कुल की मंद ?

क्या ऐसा होता है कि ब्राह्मण कुल का जल अधिक शीतल हो, और चंडाल कुल का ऊष्ण ?

नहीं ! तो फिर धर्म में कुल-जाति का भेद क्यों और कैसे हो सकता है ?

जो सदाचार और शील का पालन करे, वही धर्म की आराधना कर सकता है।

भिक्षु आनन्द एक बार श्रावस्ती के राजपथ पर भ्रमण कर रहे थे। भयंकर धूप के कारण मारे प्यास के उनका गला सूख रहा था। एक गृहद्वार पर खड़ी तरुणी की ओर देखकर आनन्द ने पानी की याचना की।

तरुणी ने हाथ में जल का बर्तन लिया, पर सकुचाते हुए उसने नम्र दृष्टि से भिक्षु की ओर देखकर कहा—"पर, भिक्षु ! मैं चंडाल कन्या हूँ।" उसके हाथ कांप रहे थे।

आनन्द ने सांत्वना के स्वर में कहा—"सुभगे ! मैंने पानी मांगा था, जाति नहीं पूछी !" और तरुणी ने श्रद्धा के साथ भिक्षु को जल पिलाया।

चंडाल कन्या आनन्द के समभाव से प्रभावित होकर तथागत के पास आई, उसने ज्ञान प्राप्त किया, और प्रव्रजित हो गई।

चंडाल कन्या की प्रव्रज्या देखकर श्रावस्ती के उच्च-वर्गीय लोगों में खलबली मच गयी। राजा प्रसेनजित भी कुछ भ्रांत और उत्तेजित हुए तथागत के पास आये। तथागत बुद्ध ने उनके हृदय का अंधकार दूर करते हुए कहा—"कोई भी बड़ा मनुष्य आकाश से नहीं उतरता, और कोई भी छोटा मनुष्य पाताल से नहीं निकलता। स्वयं के आचार-विचार से ही सब छोटे बड़े बनते हैं।" कर्म, विद्या, धर्म, शील और उत्तम जीवन इनसे ही मनुष्य शुद्ध होते हैं, गोत्र और धन से नहीं। बुद्ध के उपदेश से सब की भ्राँति दूर हट गई।

—(मज्झिमनिकाय ३।४३।३)



४८

आनन्द का मूल



"संसार में सब से अधिक सुखी व आनन्दित कौन है?"—एक विद्वद्‌सभा में प्रश्न उठा, और हवा में तैरने लगा।

किसी ने कहा—संतोषी!

किसी ने कहा—सत्यवादी! और किसी ने भक्त, निस्पृह संत और किसी ने दयालु बादशाह को सबसे अधिक सुखी बताया, पर विद्वानों के तर्क-तूणीरों ने इन सब समाधानों के अन्तरतम को भेद कर रख दिया। प्रश्न असमाहित ही खड़ा रहा—"सब से बड़ा सुखी कौन है?"

एक वृद्ध ने कहा—मैंने एक दिन एक नदी के तट पर मखमली घास पर एक अबोध शिशु को खेलते देखा, हवा के हल्के-हल्के हिलोरों से वृक्ष का कोई छोटा-सा पत्ता गिरकर उसके पास आ जाता तो शिशु उसे देख कर

आनंदित हो उठता, कोई चिड़िया चहकती तो शिशु किलक उठता, एक छोटा-सा बकरी का बच्चा सामने आया तो शिशु उसे देखकर आनंद से ललक उठा—वृद्ध ने विद्वानों को ओर प्रश्न भरी नजर से देखा—"बतलाइए उस शिशु के आनंद का कारण क्या है ?"

यदि ज्ञान से आनंद प्राप्त होता है तो शिशु तो निरा अबोध था, उसे कुछ भी ज्ञान नहीं; उसके पास कोई सत्कर्म भी नहीं। वह गुलाब के फूल को देखकर भी आनंदित हो रहा था और नीम के पत्तों को हिलता देख कर भी! उसकी आनंद सृष्टि का मूल क्या है ? वह पानी में सरसराती मछली को दौड़ती देखकर भी किलक उठता और विषधर भुजंग को आते देख कर भी आनंद से मचलने लगता। आखिर उसके निर्मल आनंद का उत्स कहाँ था ?"

सभा में स्तब्धता छा गई, बालक के आनंद के मूल तक किसी की सूक्ष्मदृष्टि नहीं पहुँची।

वृद्ध ने अपनी अनुभवी वाणी में कहा—"बालक की आनन्दानुभूति का मूल स्रोत यही है कि उसकी अपनी कोई कल्पना नहीं, उसका हृदय निर्मल एवं पवित्र था, फूल और कांटा, मछली और विषधर में वह कोई अन्तर नहीं देखता... उसकी अन्तर सृष्टि सर्वथा वीतराग थी, स्नेह एवं आनंद की लहरियां उसके हृदय में उठती थीं

और उन्हीं का प्रतिबिम्ब वह समस्त जगत में देखता था। बस—शिशु सा निर्मल, निराग्रह हृदय ही आनंद एवं सुख का मूल केन्द्र है।"



४६

दिल का आईना—आँख



आँख—दिल का आईना है। मन की गहराई में जो भावों की रंग-बिरंगी तरंगे उछलती हैं, आँखें उनका स्पष्ट प्रतिविम्ब प्रकट कर देती हैं। लज्जास्पद बात देखते ही वे झुक जाती हैं, आनन्द का अनुभव करते ही चमक उठती हैं। रोष का उदय हुआ नहीं कि वे लाल अंगारे-सी हो कर जल उठती हैं, और करुणा का उद्रेक होते ही नम होकर बरस पड़ती हैं। जो बात वाणी नहीं प्रकट कर सकती, वह बात आँखें प्रकट कर देती हैं।

महाभारत में एक कथा है—व्यास जी के पुत्र शुकदेव बारह वर्ष के नहीं हुए कि तपस्या करने जंगल की ओर चल पड़े। वे निर्वस्त्र ही थे। मार्ग में एक तालाब पर अप्सराएं वस्त्र उतार कर नहा रहीं थी, शुकदेव को देख-कर भी वैसे ही नहाती रहीं।

शुकदेव के पीछे व्यास जी दौड़े जा रहे थे, उसे मनाने

के लिए। व्यासजी को देखते ही अप्सराएं सकुचा कर वस्त्र पहनने लगीं। आश्चर्यपूर्वक व्यासजी ने कहा—अभी-अभी मेरा तरुण पुत्र इधर से निकला तब तो तुम्हें बिल्कुल ही शर्म नहीं आई, और मुझ ब्रह्मज्ञानी वृद्ध को देखकर शर्म कर रही हो....?

अप्सराएं विनय के साथ बोलीं—महर्षे! शुकदेव तरुण होते हुए भी उसकी आँखों में एक अबोध शिशु की भांति भोलापन था, उसे देखकर हमें भान भी नहीं हुआ कि कोई पुरुष हमारे सामने से गुजर रहा है, किंतु आपकी आंखों में न वैसा भोलापन था न अबोधता! आप को देखते ही हमारी आँखें शर्म से स्वयं झुक जाती हैं।

सचमुच ही आँखें मनुष्य के हृदय का दर्पण होती हैं।

आँखों में हृदय के भाव कितनी तीव्रता से स्पंदित होते हैं और मन व चरित्र पर कितना प्रभाव डालते है इसका उदाहरण है लन्दन से प्रकाशित 'प्रेडिक्शन' पत्रिका की इस रोचक घटना में—

फ्रांस के 'सैनटी-सर्मा' नामक गांव में एक जैनेट नामक लड़की जन्मांध थी। वह स्वभाव से बड़ी सरल, सुशील और मधुर थी। १६ वर्ष की अवस्था में एक जेटानी नामक डाक्टर ने उसका आप्रेशन कर 'आँखवैंक' पेरिस से दूसरी आँखें मंगवाकर लगा दीं।

दूसरी आँखें लगने के वाद लड़की के स्वभाव में विचित्र परिवर्तन हो गया। वह वड़ी क्रूर, झगड़ालू और

निर्दय बन गई। एक-दो बार तो उसने आत्महत्या का भी प्रयत्न किया। डाक्टरों के समझाने पर उसने बताया कि उसे लोगों से नफरत हो रही है। लोगों की आँखें उसे घूरती-सी लगती हैं। लड़की के स्वभाव में विचित्र परिवर्तन देखकर डाक्टरों को आश्चर्य हुआ। उन्होंने पेरिस आँख-बैंक से पत्र व्यवहार कर पता लगाया कि वे आँखें किस व्यक्ति की थी ! बहुत छान-बीन के बाद पता चला कि—एक हत्या के अभियुक्त, जिसे फाँसी की सजा दी गई थी उसने स्वेच्छापूर्वक अपनी आँखें बैंक को दान कर दी थीं, वे ही आँखें लड़की को लगाई गई हैं।

डाक्टरों को भी अत्यंत आश्चर्य हुआ कि एक व्यक्ति की आँखें अन्य व्यक्ति को लगाने पर उसकी मनोवृत्तियों पर उनका कितना गहरा असर पड़ता है।

जैन दर्शन ने इसीलिए तो मनःसंयम के साथ चक्षु-संयम की बात कही है। मन को पवित्र रखने से ही आँखें पवित्र रह सकती हैं। दूषित मन की आँखें भी दूषित ही होंगी और पवित्र मन की आँखें भी पवित्र ! तीर्थङ्करों की करुणा-स्निग्ध आँखों को देखकर हिंसक मानव और हिंसक पशु भी दयालु और सरल बन जाते हैं। आँखों का यही चमत्कार है।



५०

ज्ञानी का धीरज



संकट, आपत्ति और विनाश की काली घटाएं जब घहर-घहर कर जीवन पथ को अंधकार मय बना देती हैं, सुख, प्रसन्नता और आनन्द की प्रकाश किरणों को ढंक देती हैं, तब वह कौन-सा दीपक है जो अपना क्षीण प्रकाश देकर भी मनुष्य के मन को आलोक देता है, विपत्ति के गर्त में झूलते हुए को सहारा देकर थामे रखता है, वह कौन सा सहारा है ? वह है—ज्ञान, विवेक ! धैर्य !

कभी- कभी जीवन में ऐसे भूचाल आते हैं, कि मनुष्य सहसा अपने वर्षों के श्रम की उपलब्धियों से हाथ धो बैठता है। जीवन भर की उपलब्धि क्षण भर में नष्ट हो जाती है, ऐसी विकट वेला में मनुष्य का विवेक, एवं संयम क्षत विक्षत होना सहज है, पर कुछ महान विवेक-शाली एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति होते हैं, जो इन आघातों को भी प्रकृति का उपहार मानकर स्वीकार कर लेते हैं, और उसी साहस के साथ पुनः अपनी साधना में जुट

जाते हैं।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सर आइजक न्यूटन के जीवन क प्रसंग है। किसी प्रयोग के सिलसिले में न्यूटन ने वरसों से एक यंत्र के कुछ आंकड़ों का एक ग्राफ बनाकर रख छोड़ था। यह ग्राफ-कागज प्रयोगशाला में यंत्र के पास ही रखा रहता था। कई साल पुराना होने के कारण ग्राफ कागज मैला हो गया था और उस पर धब्बे भी पड़ गये थे।

एकबार पुराना नौकर छुट्टी पर चला गया, नय नौकर प्रयोगशाला में सफाई कर रहा था। नौक की नजर उस मैले पुराने कागज पर गई, उसने सोचा— मालिक को शायद नया कागज निकालकर काम लेने की फुर्सत न मिली हो, अतः उसने उस पुराने कागज को फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया और नया कागज वहाँ रख दिया।

इधर प्रयोगशाला में न्यूटन पहुँचे। यंत्र के पास नया कागज देखकर चकित हुए! फिर पुराना कागज खोजने पर दिखाई नहीं दिया तो नौकर को बुलाकर पूछा— यहाँ का कागज कहाँ गया?

"पुराना हो गया था, इसलिए फाड़कर रद्दी की टोकरी में डाल दिया""साहब!"

न्यूटन क्षण भर विमूढ़ से-खड़े रहे। हताश-निराश हो सिर पकड़कर वहीं बैठ गये। वर्षों का परिश्रम अन·

जान नौकर ने रद्दी की टोकरी में डाल दिया। वे पसीने से तर-बतर हो रहे थे। पर कुछ क्षण बाद ही अपने आपको संभाल लिया न्यूटन ने। धैर्य टूटने नहीं दिया, पुनः प्रयोगशाला में उठकर बैठ गये और आँकड़ों का दूसरा ग्राफ बनाने में जुट गये !

यह है विवेकी मानस का धैर्य ! इतनी विकट घड़ियों में भी उसने अपने विवेक को जगाये रखा, और मानसिक संतुलन बिगड़ने नहीं दिया।

प्रसिद्ध लेखक कारलाइल के जीवन में भी कुछ ऐसी ही घटना घटी। फ्रेंच-राज्यक्रान्ति के सम्बन्ध में उसने एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा, अनेक दुर्लभ पत्र व आँकड़े उसमें संकलित किये थे। उसकी पांडुलिपि अपने एक मित्र के पास देखने को भेजी। मित्र की असावधानी से पांडुलिपि को नौकर ने रद्दी में बेच डाला और रद्दी वाले ने उसे जला डाली।

कारलाइल इस घटना से कुछ देर हतप्रभ-सा रह गया। पर चुपचाप घर लौटकर उसने अपनी स्मृति को स्थिर किया और पुनः वह ग्रन्थ लिखने में जुट पड़ा।



५१

वीर और उदार

एक जिज्ञासु ने किसी विद्वान् से पूछा—उदारता और वीरता—इन दोनों में किसका महत्त्व अधिक है ?

विद्वान् ने कहा—जिसमें उदारता है, उसे वीरता की जरूरत ही क्या है ?

जिज्ञासु का समाधान नहीं हुआ। वह विद्वान् के मुंह की ओर ताकता रहा। विद्वान् ने कहा—युधिष्ठिर, अर्जुन, दुर्योधन और कर्ण में तुम प्रातःकाल किसका नाम सबसे पहले लोगे ?

जिज्ञासु–कर्ण का ?

विद्वान्—क्यों ? क्या वह सबसे बड़ा वीर था ?

जिज्ञासु—"नहीं ! वीरता नहीं किंतु दानशीलता में संसार में उसकी जोड़ी का कोई दूसरा नहीं हुआ !" और जिज्ञासु अपने ही मुंह से अपना समाधान पाकर संतुष्ट हो गया।

दान व उदारता की महिमा गाते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—

दिन्नं होति सुनीहतं

—अंगुत्तर निकाय ३।६।२

दिया हुआ चिरकाल तक सुरक्षित रहता है।

ऋग्वेद के ऋषियों ने कहा है—

दक्षिणावंतो अमृतं भजन्ते

—ऋग्वेद १।१२५।६

देने वाला अमरपद प्राप्त करता है। वास्तव में जिसने दिया उसी ने कुछ किया

संसार वीरों को नहीं किंतु, दानियों को याद करता है। दानी वीरों का भी पोषण करता है, इसलिए वीर भी दानी को ही श्रेष्ठ समझते हैं।



५२

निस्पृहता का अभ्यास

मन में यदि तृष्णा नहीं हो, तो जगत् का कोई भी पदार्थ चाहे वह सोना हो या मिट्टी—एक समान प्रतीत होता है। समत्वभाव की यह साधना ही निस्पृहता की कसौटी है। इसीलिए साधक का यह विशेषण आगमों में आया है—

सम लेट्ठु-कंचणो भिक्खु

—उत्त० ३५।१३

भिक्षु सोने में और पत्थर में समान बुद्धि रखता है।

योगी की परिभाषा करते हुए यही बात गीता में दुहराई गई है—

समलोष्टाश्मकांचनः

—गीता १४।२४

रामकृष्ण परमहंस के जीवन की एक घटना है। जब वे साधना काल में ध्यान एवं भक्ति में लीन रहते थे तो

गंगा के किनारे वैठ कर एक हाथ में रुपया (चाँदी का सिक्का) लेते और एक हाथ में गंगा की मिट्टी। मिट्टी को हाथ में लेकर कहते—यह मिट्टी है, यह अन्न पैदा कर संसार को देती है, जगत् का पालन करती है। दूसरे हाथ में रुपया लेकर कहते—यह टाका है, इससे लोग अन्न खरीदते हैं। पर यह अन्न पैदा नहीं कर सकता। और फिर दोनों को समान भाव से कहते—'मिट्टी-टाका' 'टाका-मिट्टी' मिट्टी और टाका में कोई भेद नहीं। मिट्टी टाका समान है।

लोग परमहंस से इस प्रकार के जाप का कारण पूछते, तो परमहंस ने कहा—मिट्टी और टाका में भेद नहीं देखना यही तो मन की समवृत्ति है और इस समवृत्ति की साधना के लिए मन से दोनों के भेद की कल्पना मिटनी चाहिए। यह भेद कल्पना मिट गई कि निस्पृहता का अभ्यास सध गया।"

वास्तव में साधक के मन की इतनी ऊंची स्थिति बने कि वह सोना और मिट्टी, मिट्टी और टाका में कोई भेद अनुभव न करें, मिट्टी के स्पर्श में जो सामान्य मनःस्थिति रहती है, सोने और रुपये के स्पर्श में भी उसी प्रकार की सामान्य स्थिति बनी रहे—तो निस्पृहता का सच्चा अभ्यास हुआ समझना चाहिए।



५३

आग्रह



ग्रह' मनुष्य के लिए इष्ट भी होते हैं और अनिष्ट भी, किंतु 'आग्रह' तो सदा अनिष्ट ही होता है। आग्रह–से सत्य का द्वार वन्द हो जाता है। आग्रही बुद्धि–सत्य को सत्य रूप में नहीं, किंतु अपनी पूर्ववद्ध धारणा के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है।

यदि किसी सुआँखे व्यक्ति की देखी हुई वस्तु को जन्मांध व्यक्ति नकारने लगे तो इसका अर्थ यह नहीं कि सुआँखा व्यक्ति झूठा है—

नाऽन्धाऽदृष्ट्या चक्षुष्मतामनुपलम्भः

सांख्य दर्शन १।१५६

इसी प्रकार आग्रही यदि किसी सत्य को नकारता है तो उसके नकार मात्र से सत्य का अस्तित्व लुप्त नहीं हो जाता।

राजस्थान में एक लोककथा प्रसिद्ध है। एक गाँव में

कुछ व्यक्ति चौपाल में बैठे गंपशप कर रहे थे। एक जाट ने शर्त लगाई "कि यदि कोई व्यक्ति पचास और पचास का जोड़ सौ सिद्ध करदे तो मैं अपनी भैंस उसे दे दूंगा।"

जाट ने घर पहुँचकर जाटनी के सामने अपनी शर्त बताते हुए मूंछों पर बल लगाया, तो जाटनी ने घबड़ा कर कहा-कैसी पागलपन की बात करते हो, पचास और पचास तो सौ होते ही हैं। भैंस देकर क्या मेरे बच्चों को भूखों मारोगे ?"

जाट ने हंसते हुए कहा—घबराओ मत ! पचास और पचास सौ होता है यह तो मैं भी जानता हूं, किंतु मैं किसी के सामने इसे स्वीकार करूंगा तभी तो ? मैं 'ना-ना' ही कहता रहा तो शर्त हार कैसे जाऊंगा।"

वास्तव में आग्रही व्यक्ति जब सत्य को 'सत्य' समझ कर भी उसको अस्वीकार करता जाये तो उसे फिर कौन समझाए ?



५४

सोने का झोल

●

एक पादरी महोदय ने नगर के प्रसिद्ध श्रीमंत यहूदी को ईसाई बनाने के विचार से उन्हें चर्च में बुलाया। थोड़ी देर बातचीत की और प्रभु ईसा का नाम सुनाकर यहूदी के शरीर पर तीन बार पानी के छींटे डाले। पादरी ने कहा—अब तुम ईसाई बन गये हो, पवित्र दिन (साबाथ के दिन) में कभी भी माँस मत खाना।

यहूदी ने पादरी की बातें सुनी और चुपचाप अपने घर चला आया।

साबाथ के दिन पादरी ने सोचा—"चलकर देखना चाहिए कि वह व्यक्ति सचमुच मेरे कहने पर अमल करता है या नहीं।" पादरी ठीक भोजन के समय पर उसके घर पहुँचा और वह देखकर हैरान रहगया कि आज भी उसकी टेबल पर माँस रखा हुआ है।

पादरी ने कहा—"तुम्हें याद नहीं रहा, आज के

पवित्र दिन में माँसाहार करने की मना की थी न ?"

यहूदी ने कहा—"मुझे याद है ! किंतु इसे तो मैंने तीन बार पानी के छींटे डालकर बेजिटेबल बना लिया है।"

पादरी बड़ी हैरत से उसे देखने लगा–"ऐसा नहीं हो सकता, कितना भी पानी छींटो, माँस तो माँस ही रहेगा।"

यहूदी ने तीखी मुस्कराहट के साथ पादरी की आँखों में आँखें डाली—"फिर पानी के छींटे देने से यहूदी ईसाई कैसे हो सकता है ?"

पादरी के पास इस बात का कोई जबाब नहीं था।

वास्तव में धर्म ऊपर से नहीं थोपा जाता, वह तो हृदय से जन्म लेना चाहिए। एक जैनाचार्य के शब्दों में–

वण्णेण जुत्तिसुवण्णगं व असइ गुणनिहम्मि–

दशवै. निर्युक्ति ३५६

सोने का झोल चढ़ा देने से पीतल कभी सोना नहीं हो सकता। वैसे ही केवल धार्मिक मत या पंथ बदल लेने से व्यक्ति धार्मिक नहीं होता। धार्मिकता हृदय से जगनी चाहिए।



५५

क्या गोरा, क्या काला



अगरबत्ती दीखने में काली है, पर उसका कण-कण मधुर सुगन्ध से महकता रहता है।

कपास का फूल—दीखने में दूध - सा उजला है, पर कहीं सुगंध का एक कण भी उसमें नहीं है!

अपनी सुगंध के कारण अगरबत्ती पूजा के समय घर-घर में जलाई जाती है।

इसी प्रकार जिस व्यक्ति में गुण हैं, स्नेह एवं सद्भाव है, उसकी चमड़ी चाहे काली हो, या गोरी, वह सर्वत्र सम्मान एवं आदर प्राप्त करता है।

ऋषि अष्टावक्र ने तो एक बार महाराज जनक के राज पंडितों को ललकार कर कहा था—"चमड़ी को देखनेवाला चमार होता है, आत्मा को देखनेवाला ज्ञानी!"

भगवान महावीर ने तो यहाँ तक कह दिया—

सक्खं खु दीसई तवो विसेसो
न दीसई जाइ विसेस कोइ।

संसार में तप (साधना) की विशेषता ही प्रत्यक्ष दीख रही है, जाति, वर्ण एवं रंग की कोई विशेषता नहीं है।

भारतीय नीति का सूत्र है—चंडाल से भी धर्म का श्रेष्ठ तत्त्व ग्रहण कर लेना चाहिए।—

अन्त्यादपि परं धर्मं

—मनुस्मृति २।२३८

और इस नीति सूत्र को आगे बढ़ाते हुए आचार्य सोमदेव कहते हैं—"**पुरुषाकारोपेतः पाषाणोऽपि नावमंतव्यः किं पुनर्मनुष्यः**"—मनुष्य का रूप धारण किए पत्थर का भी सम्मान करना चाहिए, फिर मनुष्य—चाहे गोरा हो या काला, चंडाल हो या ब्राह्मण उसका अपमान क्यों किया जाय? उसका सम्मान कर उसके गुण ग्रहण करना चाहिए।

वात है कुछ पुरानी, अमेरिका के स्वतंत्रता के जन्म दाता जार्ज वाशिंगटन के जीवन की।

वाशिंगटन एक वार अपने मित्रों के साथ घोड़े पर सवार हुए कहीं घूमने को निकले। रास्ते में एक हब्शी (काला आदमी) उधर से आता हुआ रुक गया। वाशिंग-

टन को देखकर उसने अपनी टोपी उतार कर उनका अभिवादन किया। उत्तर में जार्ज वाशिंगटन ने भी सिर झुकाकर शिष्टता के साथ उसका प्रणाम स्वीकार किया।

जार्ज के साथी गोरी चमड़ी वाले थे, वे कालों से नफरत करतें थे। गोरा कुत्ता उनकी वैठक में आ सकता था, पर काला आदमी उनके घर की देहली पर नहीं चढ़ सकता। जार्ज से बोले—"एक काले आदमी के प्रति इतना सम्मान प्रदर्शित करना आपके पद के अनुरूप नहीं है।"

जार्ज वाशिंगटन ने हँसते हुए अपने मित्रों की ओर देखा—"आप जिसे असभ्य मानते हैं, वह आदमी जब इतनी सभ्यता दिखाता है तो क्या मैं उससे भी नीचा, गया वीता साबित हो जाऊँ ?"

"उच्चता और नीचता का मापदंड, क्या गोरी काली चमड़ी ही है ?" मित्रों के पास इसका कोई उत्तर नहीं था !



५६

मित्र बनाकर



कटुता से कटुता नहीं मिट सकती, वैर से वैर शांत नहीं हो सकता। अग्नि से अग्नि नहीं बुझ सकती !

भगवान महावीर से जब पूछा गया–"क्रोध को विजय कैसे करें ?" तो उन्होंने बताया—'क्षमा' से !—

उवसमेण हणे कोहं

—दशवै० ८

उपशम से क्रोध को जीतो।

जब तथागत बुद्ध से पूछा गया–शत्रुता को, वैर विरोध को मिटाने का उपाय क्या है ? तो वही प्रतिध्वनि फिर गूंजी–अवैर से वैर को जीतो—

अवेरेण च सम्मंती

—धम्मपद १।५

अवैर से ही वैर शांत होता है।

महापुरुषों की यह वाणी जीवन और जगत का शाश्वत नियम रही है। देश-काल की सीमाओं से परे प्रत्येक उदात्त जीवन में प्रतिविम्वित होती रही है।

राष्ट्रपति अब्राहम लिंकन के जीवन का प्रसंग है। वे अपने मित्रों के प्रति जितने विनम्र एवं मधुर थे, शत्रुओं के प्रति भी उतने ही उदार एवं सहृदय थे। अनेकवार अपने शत्रुओं को वे मित्र की तरह घर पर बुलाते, उनके साथ वातचीत करते और वड़ा ही स्नेह प्रदर्शित करते।

लिंकन की यह नीति और व्यवहार उनके मित्रों को पसन्द नहीं आई। एकबार एक मित्र ने झुंझला कर लिंकन से कहा—"आप अपने शत्रुओं के साथ मित्र की तरह व्यवहार क्यों करते हैं, इन्हें तो खत्म कर डालना चाहिए।"

मधुर मुस्कान के साथ लिंकन ने उत्तर दिया—'मैं तो तुम्हारी वात पर ही चल रहा हूँ, शत्रुओं को ख़त्म करने में ही लगा हूँ।' हां, तुम उन्हें जान से मार डालने की वात सोचते हो, और मैं उन्हें मित्र वनाकर !

शत्रुता को मित्रता में बदलने का, कटुता को मधुरता में वदलने का कितना सुन्दर तरीका था यह !



५७

रावण की सीख

जब रणक्षेत्र में पड़ा रावण अंतिम सांसें गिन रहा था, तब श्री राम ने लक्ष्मण को संकेत किया—"लक्ष्मण ! रावण जैसा ज्ञानी और राजनीतिज्ञ जा रहा है, उससे बहुत कुछ सीखने जैसा है, जाओ, उसके अनुभव पूछो !"

रावण जैसे आततायी और दुष्ट से शिक्षा लेने की बात, लक्ष्मण को असह्य थी, पर श्री राम की आज्ञा का अनादर भी कैसे करते। अनमने भाव से वे रावण के निकट गये। सिरहाने की ओर खड़े होकर उन्होंने रावण से अपने अनुभवों की सीख सुनाने को कहा।

भूमिपर पड़े सिसकते रावण ने लक्ष्मण की ओर देखा भी नहीं। क्षुब्ध हो, लक्ष्मण लौट आये। लक्ष्मण को निराश लोटे देखकर श्री राम ने कहा—"अनुज ! लगता है तुम ने लंकेश के सिरहाने खड़े होकर सीख लेना चाहा है। बंधु ! सीख तो नम्र और विनयी बनकर ही प्राप्त की

जा सकती है। कोई चाहे जितना महान हो, लेने के लिए तो झुकना ही पड़ता है, देखते हो, समुद्र भी नदी नालों से पानी लेने के लिए उनसे नीचे ही रहता है।"

लक्ष्मण अपनी भूल समझ गए, अब वे विद्यार्थी की भांति रावण के पास गये और पाँवों की ओर खड़े होकर विनम्र स्वर में बोले—"लंकेश ! मैं आपसे कुछ सीखने आया हूँ। अपने जीवन के बहुमूल्य अनुभवों से कुछ शिक्षा दीजिए।"

वेदना से कराहते हुए रावण के मुख पर एक मधुर-स्मित रेखा खिच गई ! फिर गंभीर होकर बोला—"मैं अब क्या सीख दूं, अपने ज्ञान एवं अनुभवों से स्वयं को भी सुखी नही बना सका, तो दूसरों को क्या कहूँ। सीता अपहरण की एक ही भूल ने मेरे समस्त गौरव को मिट्टी में मिला दिया और जीवन के समस्त सुकृत्यों पर पानी फेर दिया। फिर भी मुझे पूछते हो, तो लो, सौमित्र ! ये तीन बातें हृदय पटल पर अंकित करलो—

१. शुभ कार्य करने में पल भर का भी विलम्ब नहीं करना चाहिए।

२. क्रोध और अहंकार के वश होकर कोई कार्य नहीं करना चाहिए।

३. दुष्कृत्य करने से पूर्व भी गुणिजनों की अनुमति लेना चाहिए।

मुझ से जीवन में ये ही तीन भूलें हुई। शुभ कार्य कल

ार टालता रहा। क्रोधावेश में अपने छोटे भाई को भी ख़देड़ दिया। सीता-हरण जैसा दुष्कृत्य गुणीजनों की सम्मति लिए विना सहसा कर डाला। कहते-कहते रावण ने एक सिहरन के साथ आँखें फेर ली।*

रावण की इन शिक्षाओं के प्रकाश में देखिए महा-पुरुषों के ये शिक्षावचन—

भगवान महावीर ने गौतम से बार-बार कहा—

समयं गोयम ! मा पमायए —उत्त० १०।१

गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद मत कर।

जे छेय से विप्पमायं न कुज्जा

—आचा० १।१४।१

चतुर वही है, जो कभी शुभकृत्य में प्रमाद न करें और देखिए तथागत का यह वचन—

ञाति मित्ता सुहज्जा च परिवज्जंति क्रोधनं

—अंगुत्तर निकाय ७।६।११

क्रोधी को, ज्ञातिजन, मित्र, और सुहृद् सभी छोड़ देते हैं। और महाकवि भारवि की यह सूक्ति—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदापदम्

जल्दबाजी में कोई भी कार्य मत करो, अविवेकपूर्ण क्रिया से अनेक आपत्तियाँ खड़ी हो सकती हैं।

---

* वैदिक ग्रन्थों के आधार से।



५८

निंदा की लाज



'निंदा' दो अक्षर का वह विष है, जो मनुष्य के ज्ञान और चरित्र को कलुषित कर उसकी यशःदेह को नष्ट कर डालता है। निंदा करनेवाला—चाहे विद्वान् है, तब भी शास्त्रों में उसे मूर्ख, अज्ञान कहा है। निंदक का चरित्र तो अच्छा हो ही नहीं सकता। भगवान महावीर ने कहा है—

अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने

—सूत्र १।१३।१४

अपनी प्रज्ञा आदि के अहंकार में दूसरों की अवज्ञा और निंदा करनेवाला सचमुख मूर्ख-बुद्धि है।

और निंदा सुनकर जो व्यक्ति अपना धैर्य खो बैठता है, शास्त्रों की भाषा में वह भी बाल है, अज्ञानी है,

कोई बच्चा यदि किसी राह चलते सज्जन पर थूक दे, तो क्या वह सज्जन आदमी भी उस पर थूकने की

चेष्टा करेगा ? नहीं ! ऐसा करने में सज्जन की सज्जनता को लाज आती है।

जब विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार मिला और उनकी शुभ्रकीर्ति अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिजों को छूने लगी तो कुछ महानुभावों के लिए वह भयंकर व्यथा की तरह असह्य हो गई। वे रविबाबू से जलते थे, और अन्तर की कलुषित भावनाओं को पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा विखेरते भी थे। उनकी कटु आलोचनाओं को रविबाबू सदा शांत एवं प्रसन्न होकर सहन करते।

एकबार उपन्यास सम्राट् शरच्चन्द्र से जब वे कटु-आक्षेप असह्य हो उठे तो उन्होंने विश्वकवि से उनका जोरदार प्रतिवाद करने के लिए कहा। इस पर रविठाकुर मुस्कराकर बोले—उपाय क्या है शरत्‌बाबू ! जिस शस्त्र को लेकर वे लोग लड़ाई करते हैं, उस शास्त्र को मैं तो छू भी नहीं सकता।

वात चीत के प्रसंग में एकबार पुनः विश्वकवि ने कहा—मैं जिसकी प्रसंशा नहीं कर सकता उसकी निंदा करने में भी मुझे लाज लगती है।*

यही है सज्जनता का निर्मलरूप !



* शरद् निवन्धावली (पृ० १२७) हि० ग्र० र० वम्बई से प्रकाशित।

५६

विलास का विष

नीतिज्ञ विदुर ने कहा है—

षड्दोषाः पुरुषेणेह हातव्या भूतिमिच्छता।
निद्रा, तन्द्रा, भयं क्रोध आलस्यं दीर्घसूत्रता।

—महाभारत उद्योग० ३३।७८

ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुष को निद्रा, तन्द्रा (ऊंघना) भय, क्रोध, आलस्य और दीर्घ सूत्रता–इन छह दुर्गुणों को छोड़ना चाहिए।

वास्तव में ये छह दुर्गुण ही मानव जाति के विनाश, पतन एवं दुर्गति के कारण बने हैं।

इन छहों दुर्गुणों की एक जननी है—विलासिता! विलास, भोग और आसक्ति में फंसा मनुष्य, अपने हित से लापरवाह हो जाता है, प्रकृति से चिड़चिड़ा, भयभीत एवं आलसी बन जाता है। इतिहास बताता है, विलास का विष जिस राजा और प्रजा के जीवन में घुला, वह

निस्तेज एवं निर्वीर्य बनकर अपना अस्तित्व भी खो बैठे हैं।

भारत में हिन्दू राष्ट्र व राजाओं के पतन का और विदेशी आततायि-शक्तियों के चंगुल में फंसने का और क्या कारण था-सिवाय इस के? और क्या कारण था मुगलशाही के सर्वनाश का ?

दिल्ली के सिंहासन पर जब मुहम्मदशाह रंगीले का शासन था, तो दिल्ली विलासिता की बाढ़ में आकंठ डूब रही थी। बादशाह के सामने रात-दिन शराब का दौर, सुंदरियों की पायल की छम-छमाछम चलती रहती ! वह जनता के सुख-दुख से बेपरवाह होकर बस रंगरेलियों में मस्त रहता।

दिल्ली को इस प्रकार विलासिता में डूबी देख कर नादिरशाह ने भारत पर आक्रमण किया। जब लाहौर से नादिरशाह के आक्रमण की सूचना दिल्ली पहुँची तो मुहम्मदशाह शराब पीकर बेहोश हो रहा था। गाना-बजाना और नाचना—बस इसी दौर में मदमस्त शाह से एक दरबारी ने आक्रमण की सूचना पर मजाक करते हुए कहा-"हजूर! असल बात तो यह है कि लाहौर वालों के मकान इतने ऊँचे हैं कि उन्हें दूसरे मुल्क की लड़ाई भी अपने नजदीक में दिखाई देती है। दर असल कोई नादिरशाह-बादिरशाह इतनी हिम्मत नहीं कर सकता जो हजूर जैसे शाह का सामना कर सके।"

एक गायक ने कहा-"यदि नादिर आ भी गया तो

एक ऐसी वहरे-त्तवील (मधुर संगीत) गाऊँगा कि वेहोश न हो जाय।" जी-हजूरियों की मीठी वातें और शराव की मस्ती में छके मुहम्मद ने आक्रमण की सूचना को मजाक में उड़ादिया। और कुछ ही दिनों में नादिरशाह दिल्ली पर चढ़ आया। मुहम्मद उसके हाथों कैद में सियार की तरह वंद करके डाल दिया गया।

विलासिता का यही विषेला परिणाम आता है।



६०
माता की प्रतिकृति



धर्मसूत्रकार मनु ने माता को पृथ्वी की प्रतिमूर्ति माना है—

माता पृथिव्या मूर्तिस्तु

मनुस्मृति २।२२६

पृथ्वी—भूमि के रस एवं गंध का मानव शरीर पर सबसे अधिक प्रभाव रहता है, जैसे शरीर निर्माण में भौतिक-पिंड का प्रमुख हाथ होता है, वैसे ही मानव के शरीर एवं मानस की रचना में माता का सबसे मुख्य एवं प्रभावशाली हाथ रहता है। जैनसूत्रों ने इसीलिए माता को—**'देव-गुरु-जणणी'** और 'रयणकुच्छि' रत्नकुक्षि कहकर संस्तुति की है। इसीलिए तो हजार पिता से बढ़कर एक माता को माना गया है—**सहस्रं तु पितॄन् माता।**

धर्मशास्त्र, और शरीर विज्ञान इस बारे में एकमत है कि माँ के चरित्र का, उसके मानस गुणों का संतान पर

सब से गहरा प्रतिबिम्ब पड़ता है। संतान सचमुच माँ की प्रतिकृति होती है। लीजिए इस सम्बन्ध में इतिहास के दो भिन्न-भिन्न पक्षों का निदर्शन !

गुजरात के एक राजा ने अपने राजपंडित को बुलाकर कहा—"हमारा राजकुमार अत्यंत मेधावी है, इसे शिक्षित कर सिद्धराज जैसा योग्य शासक बनाइए।"

राजपंडित ने निवेदन किया—"महाराज ! शिक्षा के द्वारा सिद्धराज जैसा सदाचारी, वीर एवं कुशल शासक बनाया तो जा सकता है, पर तभी जब उसकी माता में भी सिद्धराज की जननी जैसे गुण विद्यमान हो।" राजा के पूछने पर राज पंडित ने बताया—सिद्धराज जब अबोध बालक था, तो पालने में सो रहा था, उसकी माता पालना झुला रही थी, कि सिद्धराज के पिता वनराज चावड़ा सहसा महलों में आगये, और रानी से हँसी-विनोद करने लगे।

रानी ने सलज्ज किंतु कठोर शब्दों में कहा—"आप पर-पुरुष के सामने मेरी लाज गँवाते हैं, यह ठीक नहीं !"

राजा ने चौंक कर पूछा—"यहाँ महलों में पर-पुरुष कौन है ?"

रानी ने पालने में सोये सिद्धराज की ओर संकेत किया। तब उसकी आयु करीब दो माह की होगी। राजा ने इसे रानी का बहाना समझा और उसके साथ और भी हास्य-चेष्टाएं करने लगे। तभी बालक ने सहजभाव से

मुंह फेर लिया। रानी को बालक के मुँह फेर लेने पर बड़ा ही खेद और ग्लानि हुई कि—हे भगवान्! बालक ने मेरी लाज देखली! और आत्म-ग्लानि के इस भयंकर विष ने सचमुच ही उसकी जान ले ली।"

राजपंडित की बात सुनकर राजा के मन से अपने पुत्र को सिद्धराज जैसा वीर धीर बनाने की कल्पनाएं हवा होगई।

गौरव पूर्ण मातृत्व का यह एक उज्ज्वल पक्ष है। और नारी के हीन व भयसंत्रस्त मातृत्व का दूसरा रूप भी देखिए—

मुहम्मदशाह को बंदी बनाकर नादिरशाह ने जब लाल किलेपर अधिकार किया तो उसने एक कड़ी आज्ञा दी–"मृत बादशाह की समस्त बेगमें मेरे सामने आकर नाच दिखाएं।"

नादिरशाह के हुक्म से बेगमों के होश-हवास उड़गये। जिन बेगमों ने कभी राजमहल की देहरी पार नहीं की, जिन का नाजुक मुखड़ा कभी सूरज और चाँद ने भी नहीं देखा, वे दरबार में आकर वेश्याओं की तरह पर-पुरुषों के सामने नाचे? पर करे क्या? नादिरशाह का हुक्म कौन टाल सकता? बेगमें दीवाने-आम में आकर नाचने को तैयार होगईं। नादिरशाह मयूर-सिंहासन (तख्ते-ताउस) पर लेटा था, सिरहाने नंगी तलवार चम-चमा रही थी।

सहसा बादशाह की आँखें खुलीं—तेवर बदल कर गर्ज पड़ा—"चली जाओ ! हट जाओ ? मेरे सामने से ! तुम्हारा नापाक साया पड़ने से कहीं मैं भी बुजदिल न बन जाऊं। तुम्हें अपनी अस्मत का भी ख्याल नहीं रहा, कि एक गैर-मर्द के सामने यों नाचने तैयार होगई। अच्छा होता ऐसी बेशर्मी के बदले जहर खाकर मर जातीं, तुम में से किसी एक में भी कुछ साहस और होसला होता तो सिरहाने रखा खंजर मेरे सीने में भोंक नहीं डालती ! ऐसी बुजदिल औरतों की औलाद क्या खाक राज करेगी ! चली जाओ सब ! मुझे औरतों का नाच नहीं देखना था, हौसला देखना था।"....

नादिरशाह की झिड़की में नारी की दीनता और मातृत्व की दुर्बलता पर गहरी चोट थी ! ऐसी हीनमाता क्या वीर संतति को जन्म दे सकती है ?

वास्तव में वीर माता ही वीर संतान को जन्म दे सकती है। सच्चरित्र माता की प्रतिकृति होता है सच्च-रित्र पुरुष !



६१
आपका नाम....?



महाकवि कालिदास से धीर की परिभाषा पूछी गई तो चिंतनपूर्वक कवि की वाणी मुखर हो उठी—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतांसि त एव धीराः

विकार उत्पन्न होने की स्थिति सामने आने पर भी जिसका हृदय विकार-ग्रस्त नहीं बनता, वही वास्तव में धीर-वीर है।

देखा जाता है, मनुष्य प्रायः अपनी उच्चता, महत्ता और तेजस्विता का प्रदर्शन तो बहुत करता है, बड़े-बड़े नाम और विशेषणों का आडम्बर लगाकर दुनियाँ में चकाचोंध पैदा करना चाहता है, पर जब अवसर आता है तो सारे प्रदर्शन और आडम्बर टांय-टांय फिस हो जाते हैं। विशेषणों के देवता के भीतर का राक्षस मुंह फाड़कर हुंकारता दिखाई देने लगता है।

घटना है लगभग तीन शताब्दी पूर्व आगरा में कविवर पं० वनारसीदास जी के युग की। एकवार कोई साधु आये। साधु के क्षमा और तपस्या आदि गुणों की प्रशंसा सुनकर कविवर भी दर्शन करने गए। कुछ बात चीत के वाद विनम्रता पूर्वक वोले—"क्षमा-सिंधु! क्या मैं आप श्री का शुभ नाम जान सकता हूँ।"

"इस देह को शीतलप्रसाद कहते हैं?"

कविवर ने नाम सुनकर अत्यंत प्रसन्नता व्यक्त की, पर यथानाम तथागुण की कसौटी करने के लिए वे कुछ देर वाद फिर साधु जी से नाम पूछ वैठे। साधु ने कुछ अन्यमनस्कता के साथ नाम दुहरा दिया। थोड़ी देर वाद फिर उन्होंने नाम पूछा, तो साधु झुंझला कर वोले —"क्या घनचक्कर आदमी हो, दसवार कह दिया हमारा नाम है शीतलप्रसाद! शीतलप्रसाद!" इस वार कविवर कुछ देर तक चुप रहे। थोड़ी देर वाद उठकर चलने लगे, तो फिर हाथ जोड़ कर नाम पूछ वैठे—महा-राज! आपका नाम.... एकवार और.... !"

इस वार साधु आगववूला हो गये, वोले—"पूरे गधे हो तुम! पचास वार कहदिया हमारा नाम है शीतल प्रसाद! शीतलप्रसाद! शीतलप्रसाद! पर तुम हो कि दिमाग चाट रहे हो!"

साधु जी का यह प्रचण्ड कोप देखा तो वे वोल पड़े-

"महाराज ! आपका नाम शीतलप्रसाद नहीं, ज्वाला प्रसाद मालूम होता है।" और पंडित बनारसीदास, उठ कर चल दिए।



६२

स्वामी बनाम रक्षक

●

राष्ट्र की अपार संपत्ति जिन हाथों में सुरक्षित रहती है, उसे राजा कहा जाता है। राजा राष्ट्र की संपत्ति और समृद्धि का स्वामी नहीं, मुक्त उपभोक्ता भी नहीं, वह तो केवल उसका रक्षक मात्र है। महाभारत में राजा का आदर्श बताया है—जैसे भौंरा फूलों की रक्षा करता हुआ उनसे मधु ग्रहण करता है, वैसे ही राजा भी प्रजा की रक्षा करता हुआ उसी की समृद्धि के लिए उससे कर रूप में धन ग्रहण करता है।

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः।
तद् वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

—महाभारत ३४।१७

राजा के इसी आदर्श को गांधीजी ने 'ट्रस्टीशिप' का रूप दिया। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के राजाओं की कमी नहीं, जिन्होंने राष्ट्र की संपत्ति का अपने स्वार्थ के लिए कभी भी दुरुपयोग नहीं किया,

वल्कि उसे प्रजा की संपत्ति मानकर उसकी रक्षा ही करते रहे।

दिल्ली के सिंहासन पर गुलामवंशीय बादशाह नासिरुद्दीन का शासन था। वह बड़ा नीतिनिष्ठ एवं पुरुषार्थी शासक था। पुस्तकें लिखने से जो आय होती, उसी से वह अपना जीवन निर्वाह करता। राजकोष से कभी एक पैसा उसने नहीं लिया। मुसलमान शासकों की रिवाज के विपरीत उसके एक ही पत्नी थी। नौकर कोई भी नहीं था, यहाँ तक कि रसोई भी स्वयं बेगम को अपने हाथ से बनानी पड़ती।

एकबार रसोई वनाते समय वेगम का हाथ जल गया। बेगम ने वादशाह से कुछ दिन के लिए नौकरानी रखने की प्रार्थना की तो बादशाह ने उत्तर दिया—

"राजकोष पर मेरा कोई अधिकार नहीं है, मेरे पास वह प्रजा की धरोहर मात्र है, उसमें से मैं अपने खर्च के लिए एक पैसा भी नहीं ले सकता, और मेरी स्वयं की कमाई इतनी नहीं है कि उसमें से नौकर रखने जितनी वचत हो सके, फिर तुम ही बताओ नौकरानी के लिए पैसा कहाँ से दोगी ?"

भारत जैसे विशाल देश के वादशाह की बेगम ने जब यह उत्तर सुना तो पता नहीं उसके मन में क्या प्रतिक्रिया हुई होगी····पर इतिहास ने इस बादशाह के चरित्र को राष्ट्र का महान आदर्श स्वीकार कर लिया है····।



६३

अंकुश, अपने हाथ में

●

एक प्रसिद्ध शेर है—

सहारा जो गैरों का तकती रही,
वे तस्वीरें बन कर लटकती रहीं !

दूसरों का आश्रय खोजने वाले तस्वीर जैसे दीवारों से लटकती है, वैसे ही पराश्रित होकर लटकते रहते हैं।

जिनमें पुरुषार्थ, आत्म-विश्वास एवं स्वावलंवन की भावना प्रवल होती है, वे अभाव और प्रतिकूल परिस्थितियों में जन्म लेकर भी उन्नति के शिखर की ओर बढ़ते चले जाते हैं।

नादिरशाह के सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि वह एक दीन, साधन-हीन परिवार में पैदा हुआ था यद्यपि वह क्रूर एवं युद्धप्रिय मनुष्य था, फिर भी अपने साहसी, एवं स्वावलंवी स्वभाव के कारण वह महान सेनापतियों की प्रथम पंक्ति में गिना जाने लगा। वह दूसरों की सहायता के

भरोसे कभी नहीं चलता, जिस काम को करने में स्वयं असमर्थ होता, उस काम में कभी हाथ नहीं डालता, चाहे वह कितना ही छोटा या बड़े से बड़ा काम होता।

दिल्ली पर विजय करने के बाद पराजित बादशाह मुहम्मदशाह रंगीले ने उसे हाथी पर बिठाकर दिल्ली की सैर कराने का कार्यक्रम बनाया। नादिरशाह ने भारत आने पर ही सर्वप्रथम हाथी देखा था, फिर हाथी पर बैठने का तो प्रश्न ही क्या था! हाथी के होदे में बैठने पर उसने हाथी की गर्दन पर महावत को अंकुश लिए बैठा देखा तो कहा—"तू यहाँ क्यों बैठा है? हाथी की लगाम मेरे हाथ में देकर तू नीचे उतर जा!"

महावत ने कहा—"हुजूर! हाथी के लगाम नहीं होती! इस को तो हम पीलवान ही चला सकते हैं।"

नादिरशाह ने चौंक कर पीलवान की ओर देखा—"जिस जानवर की लगाम मेरे हाथ में नहीं, मैं उस पर बैठ कर अपनी जिन्दगी खतरे में नहीं, डाल सकता"—यह कह कर नादिरशाह हाथी पर से कूद पड़ा।

क्या, जो मनुष्य अपने मन रूप हाथी का अंकुश अपने हाथ में नहीं रख सकता, और फिर भी उस पर सवार हो रहा है, वह नादिरशाह की इस उक्ति से शिक्षा नहीं लेगा?



६४

सम्राटों के सम्राट

•

वीर कौन ?

जो आकांक्षाओं से कभी परास्त नहीं होता !

स बलो अनपच्युतः

—तैत्तिरीय ब्राह्मण १।५।६

सच्चा बलवान वही है, जो कभी आशा तृष्णा के वश हो कर अपने आत्म-धर्म से च्युत न हो।

कबीरदास ने कहा है—

चाह गई चिंता मिटी मनवा बे-परवाह !
जिसको कछु चाहना नहीं, सो शाहन का शाह !

वास्तव में जिसे कुछ भी स्पृहा, कामना न हो, संसार में वह सबसे बड़ा विजेता और सम्राटों का भी सम्राट है। सम्राट भी उसके सामने स्वयं को तुच्छ अनुभव करते है।

यूनान में डाओजिनीस एक महान् निस्पृहीसंत हो

ए हैं। सिकन्दर महान् ने जब उसकी कीर्ति सुनी तो
से अपने दरवार में बुलाने की कोशिश की। पर डाओ-
जनीस कभी किसी वादशाह और रईस के सामने नहीं
ाता था। एक दिन स्वयं सिकन्दर ही डाओजिनिस से
मलने पहुंचा। डाओजिनिस धूप में लेटा था। सिकन्दर
 आने पर भी वह वैसे ही लेटा रहा। उसके व्यवहार से
सिकन्दर मन-ही-मन खिसिया गया। वह रोबीले स्वर
 वोला—"मैं सिकन्दर महान् हूँ।"

"और मुझे लोग डाओजिनीस मिराकी कहते हैं"
लापरवाही से उसने उत्तर दिया।

सिकन्दर उसके व्यवहार से हतप्रभ था, वह स्वर
दलकर वोला-"मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ?"

निस्पृही डाओजिनिस का उत्तर था—"हां, इतना
ाम करो कि जरा धूप छोड कर उधर खड़े हो जाओ।"

त्याग, और निस्पृहता के समक्ष विशाल साम्राज्य
ौर अपार भोग-सामग्रियां जैसे धूल चाटने लग गई।

भाष्यकार आचार्य उव्वट के शब्दों में ऐसे ही निस्पृह
व्यक्ति योगी कहलाते हैं, उन्हीं का योग में अधिकार है-

निस्पृहस्य योगे अधिकारः—

(यजुर्वेदीय उव्वट भाष्य— ४०।१)

और वे ही योगी सम्राटों के सम्राट कहलाते हैं।



६५

मोहजाल



इस विराट् संसार में मनुष्य का अस्तित्व सागर में एक बूंद के जितना भी है या नहीं–कौन जाने ? पर मोह एवं अहंकार के वश हुआ वह सोचता है, "संसार में मैं ही सब कुछ हूँ, मेरे समान दूसरा कोई नहीं ? मेरे जैसा कोई इतिहास में हुआ नहीं, और होगा भी नहीं !"

मोहग्रस्त प्राणी ज्ञानीजनों की इस वाणी को भूल जाता है—

नत्थि केइ परमाणुपोग्गलमेत्ते वि पएसे
जत्थ णं अयं जीवे न जाए व, न मए वावि।

—भगवती सूत्र १२।७

इस विराट विश्व में एक परमाणु जितना भी ऐसा कोई क्षेत्र (प्रदेश) नहीं है, जहाँ पर तुमने (इस जीव ने) अनेकोंवार जन्म एवं मृत्यु का चक्कर नहीं लगाया हो।

यहाँ असंख्य-असंख्य तीर्थङ्कर हो गए, असंख्य चक्रवर्ती सम्राट इस धरती पर आये, हँसे और रोते हुए चले गए, किसी की कोई गणना नहीं, फिर किस बात का अहंकार ! और किसका मोह ?

कहते हैं, जब विश्वविजेता सिकन्दर मृत्यु शय्या पर पड़ा अंतिम दमतोड़ रहा था तो उसकी मां पागल-सी होकर रो रही थी—"ऐ मेरे लाडले लाल ! अब मैं तुझे कहाँ पाऊंगी ?"

बूढी मां को सान्त्वना देने के विचार से सिकन्दर ने कहा—"अम्मीजान ! सत्रहवीं वाले रोज मेरी कब्र पर आकर पुकारना मैं अवश्य ही मिलूँगा।"

पुत्र वियोग के १७ दिन बड़ी मुश्किल से गुजारने के बाद सत्रहवीं रात को सिकन्दर की मां कब्र पर पहुँची। कुछ देर इधर-उधर तलाश करने के बाद उसे अंधेरे में पांवो की धीमी सी आहट सुनाई दी।

उसने पुकारा—"कौन ? बेटा सिकन्दर !"

उत्तर आया–"कौन से सिकन्दर की तलाश कर रही हो ?"

मां ने अधीर होकर कहा—"सिकन्दर ! दुनियां का शाहंशाह ! एक ही तो सिकन्दर था वह इस जहान में।"

एक भयानक अट्टहास के साथ आवाज आई—"अरी बावली ! कौन सा सिकन्दर ! कैसा सिकन्दर ! यहाँ तो

मिट्टी के कण-कण में हजारों सिकन्दर सोये पड़े हैं!" और सिकन्दर की लंबी चौड़ी हजारों छायाएं बुढिया के सामने नाच उठीं। बुढिया भयभीत हो उठी, उसकी मोह नींद खुली-"अरे! दुनिया के जर्रे-जर्रे में सिकन्दर सोये पड़े हैं....मैं किस लिए बावली हो रही हूँ?"



९९

भामाशाह का त्याग

●

संसार में धन का मोह सबसे बड़ा है। धन के लिए अनेक युद्ध एवं संघर्ष होते रहे हैं। धन का त्याग करने वाला-इसलिए महान माना गया है, चूंकि वह अपनी दुर्दान्त इच्छा और तृष्णा का दमन करके धन का विर्सजन करता है, और उसे देश एवं समाज के हित में लगाता है। भारतीय इतिहास में दानवीर भामाशाह का नाम इसीलिए आज भी अमर है, कि उन्होंने .देश की स्वतंत्रता के कठिन संघर्ष में राणाप्रताप को जो उदार सहयोग कर देशभक्ति एवं अपूर्वत्याग का परिचय दिया, वह वस्तुतः ही महान् था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भामाशाह के इस अपूर्व त्याग के सम्बन्ध में कहा है—

जा धन के हित नारि तजै पति
पूत तजै पितु शीलहिं खोई।

भाई सो भाई लरै रिपु से पुनि
मित्रता मित्र तजै दुख जोई।
ता धन को बनिया ह्वै गिन्यो न,
दियो, दुख देश के आरत होई।
स्वारथ आर्य, तुम्हारो ही है
तुमरै सम और न या जग कोई।

जिस धन संपत्ति के लिए—कैकेयी ने राम को वन-वास दिलाया, पाण्डव-कौरवों ने अठारह अक्षोहिणी सेना का संहार कर डाला, और जिस धन के लिए बड़े-बड़े युद्ध, नरसंहार और प्रलय होते रहे, उस धन के मोह (बनिया होकर भी) भामाशाह ने त्याग कर देश की सेवा के लिए अर्पण कर दिया—सचमुच यह एक महान् त्याग है।

भामाशाह के पिता भारमल भी पहले राणाप्रताप के मंत्री थे। उनके स्वर्गवास पर भामाशाह को मंत्री पद पर नियुक्त किया गया। भामाशाह एवं उनका भाई ताराचन्द दोनों ही राणा के विश्वस्त सेवक व वीर योद्धा थे। भामाशाह का हृदय बहुत ही उदार था। हल्दी-घाटी के युद्ध में भामाशाह ने भी अपनी तलवार का चमत्कार दिखाया था। *

---

* हल्दीघाटी का यह विख्यात युद्ध सन् १५७६, १८ जून को एक घड़ी दिन चढ़े प्रारम्भ हुआ और सायंकाल तक समाप्त होगया था।—देखें 'चांद' वर्ष ११—पूर्ण संख्या १२२, पृष्ठ ११८

हल्दीघाटी के युद्ध में २१ हजार राजपूत वीरों ने स्वतंत्रता की वेदी पर अपने प्राणों की आहुति दे दी, फिर भी मेवाड़ यवनों के द्वारा आक्रांत होने से न बच सका। राणाप्रताप अपने बचे-खुचे साथियों के साथ वीरान जंगलों में घूमते हुए मेवाड़ के पुनरुद्धार के लिए खून-पसीना बहा रहे थे। पर अब न उनके पास बड़ी सेना थी, और न सेना को खुराक देने के लिए अर्थ भी रहा। स्थिति यहाँ तक विकट बन गई कि राणा स्वयं भी जंगली घास की रोटियाँ बनवाते और आधो रोटी सुबह और आधी रोटी शाम को खाकर भी यवनों से लोहा लेते रहे।

एकवार जंगली अन्न (घास) की रोटियाँ बन रही थी, और एक छोटी बच्ची मारे भूख से विलख रही थी। उसे आधी रोटी दी गई, बच्ची रोटी पाकर नाचने लगी। तभी एक जंगली बिल्ली ने लड़की के हाथ से रोटी झपट ली। बच्ची चिल्ला उठी। राणा ने बच्चों की जब यह दुर्दशा देखी तो उनका चट्टान-सा हृदय भी वर्फ की भाँति पिघल गया। आँखें भर आईं। राणा ने मेवाड़ छोड़कर जाने का विचार किया।* तभी देशभक्त भामाशाह अपने पूर्वजों की संपत्ति लेकर राणा के चरणों में आकर उपस्थित हुए—"हिन्दुकुलसूर्य! मेवाड़ का भाग्य आपके

* अकबर से संधि करने का निश्चय कर लिया—ऐसा भी कहीं-कहीं लिखा गया है।

हाथों में हैं, लीजिए यह सेवक चरणों में हाजिर है, यह संपत्ति, यदि देश व धर्म की रक्षा के लिए काम नहीं आयेगी तो फिर यह मिट्टी है।"†

उस अपार धनराशि को यों देश रक्षार्थ समर्पित होते देखकर राणा का हृदय खिल उठा। उनका अपराजित बल, साहस और शौर्य हुंकार उठा। भामाशाह को राणा ने छाती से लगा लिया—"इस मेवाड़भूमि की रक्षा का श्रेय मुझे नहीं, तुम्हें मिलेगा! तुम्हीं मेवाड़ के उद्धारकर्ता हो।"

भामाशाह के अपूर्व त्याग के सम्मान में उनके वंशजों का उदयपुर राज्य में सदा प्रथमस्थान रहा, और उस प्राचीन गौरव की स्मृति स्वरूप नगर में प्रत्येक उत्सव व नगरभोज के समय सर्वप्रथम तिलक उन्हीं के वंशजों का किया जाता रहा।

'वीर विनोद' (पृ० २५१) के अनुसार भामाशाह का जन्म संवत् १६०४ आषाढ़ सुदी १० (ई० १५४७ जून २८) को, तथा मृत्यु संवत् १६५६ माघ शुक्ला ११ (ई० १६०० जनवरी २७) को हुआ। मृत्यु के एकदिन पूर्व उन्होंने

---

† कर्नल जेम्सटॉड के कथनानुसार भामाशाह ने राणा को जो धन भेंट किया वह इतना था कि २५ हजार सैनिकों का १२ वर्ष तक निर्वाह हो सकता था।

—देखिए टाड राजस्थान जि० १ पृ० २४९

अपनी पत्नी को एक बही दी, जिसमें मेवाड़ के खजाने का कुल हिसाब-किताब लिखा हुआ था। भामाशाह के बेटे जीवाशाह को महाराणा अमरसिंह ने अपना प्रधान मंत्री बनाया।



६७

राजा का आदर्श



शरीर के रक्षण, भरण पोषण में जो स्थान 'मुख' का है, वही स्थान राष्ट्र के संरक्षण, संस्कार, न्याय एवं पोषण की दृष्टि से राजा का है, अतः उसे भी 'राष्ट्र का मुख' या 'प्रमुख' कहा जाता है। इसीलिए कहावत भी है–'मुखिया मुख सम चाहिए।'

राजा न केवल प्रजा की रक्षा करता है, किंतु अपने उच्चे आदर्शों के द्वारा उसके जीवन में सुन्दर और महान् संस्कारों का अंकुरण भी करता है।

ऋगवेद के एक मंत्र में कहा गया है—

विशस्त्वा सर्वा वांच्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधिभ्रशत्

—ऋग्वेद १०।१७।१

–राजन् ! सब प्रजा तुम्हें हृदय से चाहती रहे, तुम्हारे आदर्शों पर अनुगमन करती रहे। तुम से कभी राष्ट्र का, प्रजा का कोई अमंगल न हो, इसका ध्यान रहे।

राजा के इस आदर्श का प्रतिविम्ब देखिए—

एकबार जयपुर के राजा सवाईजयसिंह महलों की छतपर घूमते हुए उषःकाल की रमणीय छटा देख रहे थे। सहसा उनकी नजर सामने की छत पर पड़ी, जैसे सांप पर पैर पड़ गया हो, राजा तुरंत चौंक कर उल्टेपांव नीचे उतर आये। उनके चेहरे पर एक भारी विषाद की मलिनरेखा थी। राजपंडित को बुलाकर महाराज ने पूछा–"यदि कोई पिता अपनी तरुण पुत्री को अकस्मात् नग्न देखले तो उसे क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए ?"

पंडित ने निवेदन किया—"महाराज ! इस प्रकार का विधान तो मैंने कहीं देखा नहीं, फिर भी धन-धान्यादि से उसे संतुष्ट कर पश्चात्ताप कर लेना चाहिए।"

राजा ने अपने व्यक्तिगत कोश से ५ हजार रुपए नगद देते हुए मंत्री से कहा—"हमारे महल के पड़ौस में जो अमुक घर है, उसमें रहनेवाली महिला को यह धनराशि देकर हमारी ओर से क्षमा माँगते हुए कहना—"महाराज ने छतपर चढ़ते हुए आपकी ओर भूल से दृष्टि उठाली, इस असावधानी के कारण उन्हें बहुत पश्चात्ताप हुआ। प्रायश्चित्त स्वरूप ये ५ हजार रुपए भेजे हैं और पुत्री को विश्वास रहे कि भविष्य में विना सूचना के कभी भी महाराज छतपर नहीं आयेगें।"

मंत्री राजा की गंभीर मुखमुद्रा को देख रहा था कि राजा ने आगे कहा–"मंत्रिवर ! प्रजा हमारी संतान है,

यदि हम ही अपनी बहू-बेटियों की इज्जत नहीं करेगें तो लुच्चे-लफंगों को किस मुंह से दण्ड देंगे ?"

राजा जयसिंह के उच्च नैतिक आदर्श के समक्ष न केवल मंत्री ही विनत हुआ, पर इतिहास आज भी उसके आदर्शों से शिक्षा दे रहा है।



६८

मनुष्य की खोपड़ी



विश्व में एक ऐसा महागर्त है जो एक नहीं, हजार-हजार सुमेरु पर्वतों से भी नहीं भर सकता? संसार भर का समस्त धन, धान्य और पदार्थ उस गर्त को पूरा नही कर सकते?

वह गर्त क्या है?

वह है मनुष्य का मन! मानव का मस्तिष्क! महान विचारक भगवान् महावीर ने मानव मन की इस दुष्पूरता को लक्ष्य करके कहा है—

सव्वं जगं जइ तुब्भं सव्वं वावि धणं भवे
सव्वं पि ते अपज्जत्तं नेव ताणाय तं तव!

—उत्त० १४।३९

—यदि इस जगत का समस्त धन भी तुम्हें दे दिया जाय तव भी वह तुम्हारी इच्छाओं को पूरा करने में

अपर्याप्त होगा और न मृत्यु से तुम्हें बचा सकेगा।

एक प्राचीन कथा है। एक देश में नया शासक सिंहासन पर बैठा। शासक बड़ा महत्वाकाँक्षी और साम्राज्य-प्रेमी था। उसने अपने बाहुबल से दूर-दूर तक के प्रदेशों पर विजयध्वज फहराया और लोगों से कर वसूल करके राजकोष को भरना शुरू किया। वह विजयध्वजा फहराता हुआ समुद्र के किनारे तक पहुंच गया।

राजा ने विशाल समुद्र को गर्जते हुए देखा। उसने अपने मंत्रियों से पूछा—"इस ने हमारे राज्य की बहुत बड़ी भूमि दबा रखी है, सैंकड़ों योजन में अपना विस्तार कर रखा है, आखिर हमें यह क्या कुछ 'कर' देता है या नहीं ?"

मंत्री ने आश्चर्यपूर्वक नये राजा की ओर देखकर कहा—"महाराज ! समुद्र क्या 'कर' देगा ? पर इससे हमारे राज्य को बहुत लाभ है !"

राजा—"लाभ की बात मैं नहीं पूछता, कुछ कर भी तो देना चाहिए। बिना कर लिए इसे हम अपने राज्य में नहीं रहने देंगे।" मंत्री मौन था। राजा ने सेना को आदेश दिया—"समुद्र के साथ युद्ध शुरू कर दो।" राजा की आज्ञा से बारूद, गोले समुद्र की छाती पर बर्षाए गये, तोपों की गड़गड़ाहट से समुद्र का अन्तस्तल क्षुब्ध हो उठा।

बहुत दिनों की लड़ाई के बाद एकदिन समुद्र का देवता वरुण प्रकट हुआ। एक ओजस्वीवाणी में उसने

कहा–"राजन् ! यह निरर्थक युद्ध बंद करो ! क्या चाहते हो, बोलो ?"

राजा ने रोबीले स्वर में कहा—"तुम ने हमारी विशाल भूमि रोक रखी है, इसका 'कर' दो।"

"समुद्र से भी 'कर' चाहिए ....?"

"हां ! अवश्य ! बिना कर दिए मेरे राज्य में कोई नहीं रह सकता !"

वरुणदेव ने समुद्र की गहराई में एक डुबकी लगाई और उत्ताल लहरों के साथ एक मानव खोपड़ी राजा के चरणों में आ गिरी। राजा आश्चर्यपूर्वक देख रहा था, तभी एक गंभीर ध्वनि उठी–"राजन् ! देख क्या रहे हो ! यह खोपड़ी ही मनुष्य को परेशान करती है, यह कभी नहीं भरती। यदि यह भर जाती और तृप्त हो जाती तो तुम सब कुछ पाकर भी समुद्र से कर मांगने नहीं आते ....!"

कराकांक्षी राजा चिंतन में डूब गया–"क्या सचमुच यह खोपड़ी नहीं भरती ....?"



६९

मन की बात

●

एक कहावत है—दिल, दिल को पहचानता है। मन, मन की भाषा समझता है, मन में जो विचार लहरें उठती हैं, दूसरा मन उनका प्रतिविम्व पकड़ लेता है। यदि मन में भलाई की कल्पना उठ रही है, तो दूसरे का मन स्वयं उसके प्रति अनुरक्त हो जाता है। मन यदि किसी को धोखा देना चाहता है, तो दूसरा मन स्वयं उससे साव-धान हो जाता है। इसीलिए तथागत ने कहा है—

संकप्पा काम जायसि

—महानिद्देस पालि १।१

काम—संसार, संकल्प से ही पैदा होता है; जैसा संकल्प मन में उठता है, वैसा ही संसार बन जाता है। इसी वात को आरण्यक में यों वताया गया है—

चित्तमेव हि संसारः
यच्चित्तस्तन्मयो भवति

—मैत्रा० आरण्यक ६।३४

चित्त ही संसार है, जैसा चित्त वैसा ही मित्त—जैसी भावना होती हैं, वैसी ही भाविनी बन जाती है।

एक प्राचीन लोककथा है—

एक बुढ़िया सिर पर गठरी लिए चल रही थी। उसके निकट से एक घुड़सवार निकला तो बुढ़िया ने दीनतापूर्वक कहा—"वीरा ! जरा यह गठरी अपने घोड़े पर रख ले, और आगे चौराहे पर प्याऊ है वहाँ रख देना।"

घुड़सवार ने ऐंठकर कहा—"मैं क्या तेरे बाबा का नौकर हूँ, जो तेरा सामान लाद के घूमता रहूँ।" और घुड़सवार आगे चला गया। थोड़ी देर बाद उसके मन में आया—"मैंने तो बड़ी गलती की। गठरी ले लेता और आगे निकल ज़ाता तो वह बुढ़िया क्या कर सकती थी ? सब माल हजम हो जाता····!" यह सोचकर उसने घोड़ा वापस मोड़ा, और बुढ़िया के पास आकर मीठे स्वर में बोला—"बुढ़िया माई ! ला, रख दे घोड़े पर गठरी, आदमी को आदमी के काम आना ही चाहिए, वहाँ प्याऊ पर रखता जाऊँगा, ला धर !"

इधर बुढ़िया भी अपनी भूल पर सोच रही थी—

यदि उस अनजाने घुड़सवार को गठरी दे देती, और वह नौ दो ग्यारह हो जाता तो मैं क्या करती ?" घुड़सवार को लौटा देखकर वह बोली—"बेटा ! वह बात तो गई, जो तेरे दिल में कह गया वह मेरे कान में भी कह गया। चल, अपना रास्ता नाप !"

सच है, दिल, दिल का गवाह होता है।



रहे हो ? क्या मणि खोटी है ?"

हनुमान ने विनयपूर्वक कहा—"मात ! मैं देख रहा हूँ इस बहुमूल्य मणि में 'राम' है या नहीं ?"

"यदि नहीं हो तो....?" आश्चर्यपूर्ण जिज्ञासा से सीता ने पूछा।

"तो हनुमान के काम का नहीं ! हनुमान को तो वही वस्तु प्रिय है जिस में 'राम' हो।" एकनिष्ठ भक्त हनुमान का उत्तर था।

यह 'राम' ही श्रेय है। रत्न (प्रेय) हनुमान (भक्त) को प्रिय नहीं होता, उसे तो राम (श्रेय) ही इष्ट होता है।

ऐसा ही एक मधुर प्रसंग है स्वामी विवेकानंद के जीवन का।

एक बार रामकृष्ण परमहंस ने श्री नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानंद) को अपने निकट बुलाकर कहा—"मैं तुम्हें अष्ट-सिद्धि प्रदान करना चाहता हूं। तुझे बहुत बड़े-बड़े धर्म कार्य करने हैं, तुझे इनकी आवश्यकता होगी। बोल लेगा ?"

एक मुहूर्त स्तब्ध होकर नरेन्द्रनाथ ने पूछा—"इससे क्या मुझे ईश्वर-लाभ होगा ?"

"नहीं, इससे ईश्वर-लाभ तो नहीं होगा।" गंभीर होकर परमहंस ने उत्तर दिया।

अनासक्त भाव से नरेन्द्रनाथ बोले—"जिन शक्तियों

से मुझे ईश्वर लाभ न होकर केवल लोक - मान्यता ही मिले, उनकी मुझे आवश्यकता नहीं है।"

वास्तव में वही विभूति श्रेष्ठ होती है जो ईश्वरानुभूति में सहायक हो, वही शक्ति उत्तम है, जो विरक्ति की प्रेरक हो।



७१

धर्म का सार

उपनिषद् का एक वाक्य है—

तस्मै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा

—केन उपनिषद् ४।८

आत्मज्ञान की प्रतिष्ठा—अर्थात् बुनियाद तीन बातों पर टिकी हुई है—तप, दम (इन्द्रियनिग्रह) और सत्कर्म ! ज्ञान इन्हीं तीन माध्यमों से प्रकाशित होना चाहिए और उन्हीं पर धर्म स्थिर रह सकता है।

आज ज्ञान और कर्म को अलग-अलग देखने की वज्र-भूल हो रही है। दैनिक जीवन व्यवहार जैसे कोई भिन्न विषय हो, और अध्यात्म कोई भिन्न वस्तु हो—ऐसा भ्रांत-विश्वास लोगों में बन गया है।

बौद्धग्रन्थ 'ध्यानपद्धति सार' में एक कहानी है। चीन में एक 'ताओ-व्रू' नामक संत का शिष्य था 'चुङ्-

सिन' एक दिन वह अपने गुरु के पास आकर बोला—"जिस दिन से मैं आपके पास आया हूं, आपने मुझे धर्म का सार क्या है, इस विषय में कभी कुछ नहीं कहा।"

गुरु ने उत्तर दिया—"जब से तुम यहाँ आये हो, मैं निरंतर तुम्हें धर्म का सार बताता रहा हूँ। जब तुम चाय के प्याले को लेकर मेरे पास आए हो, तो मैं सदा उसे प्रेम और शांतिपूर्वक स्वीकार किए बिना नहीं रहा। जब तुमने हाथ जोड़कर आदर पूर्वक मुझे प्रणाम किया, तो मैं भी विनयपूर्वक अपना सिर झुकाये बिना नहीं रहा। अब तुम ही बताओ! मैंने कब तुम्हें धर्म का उपदेश नहीं दिया। तुम्हारी भ्रांति यह है कि तुम धर्म को दैनिक जीवन के व्यवहारों से भिन्न उपदेश की वस्तु मानते हो, इसलिए इन धर्ममय व्यवहारों को धर्म की शिक्षा नहीं समझते, और मैंने प्रेम, सद्भाव, शांति और विनय में ही धर्म की शिक्षा दी है।"

शिष्य मौन होकर गुरु के जीवन में धर्म का सार देखने लगा, और प्रसन्न भाव से चरणों में झुक गया।



७२

दृढ़ संकल्प

मन में ध्येय के प्रति दृढसंकल्प हो, और साहस के साथ जुटे रहने का जीवट हो, तो फिर फल की प्रत्याशा किए बिना जो अपने कार्य में जुटा रहता है, उसके लिए क्या असंभव है ? दुष्प्राय को प्राप्त करना, असंभव को संभव बनाना, फिर कोई बड़ी बात नहीं होती।

तथागत बुद्ध के जीवन से सम्बधित धर्मो-साहित्य में एक धर्मकथा प्रसिद्ध है। एकबार तथागत बोधि की खोज में भटक-भटक कर हिम्मत हार चुके थे। वापस कपिलवस्तु के राजमहल में लौटने के संकल्प ने उनके चरण उस ओर बढ़ा दिये थे। चलते-चलते वे एक झील किनारे विश्राम के लिए कुछ क्षण रुके। वहां एक गिल-हरी पर सिद्धार्थ की दृष्टि पड़ी। वह बार-बार पानी के पास जाती, अपनी पूंछ उसमें डुबाती और फिर आकर रेत पर उसे झटक देती।

"नन्ही गिलहरी ! यह क्या कर रही हो ?"—सिद्धार्थ ने पूछा।

"इस झील को सुखा रही हूं"—गिलहरी ने गर्व के साथ उत्तर दिया।

"तुम से यह काम असंभव है, भले तुम हजार बरस जियो, और करोड़ों अरबों बार अपनी पूंछ पानी में डुबा कर झटको, परंतु तुम झील को कभी नहीं सुखा पाओगी!"

"अच्छा ! तुम ऐसा मानते हो ? पर मैं तो किसी काम को असंभव नहीं मानती, जब तक जीऊंगी अपना काम करती रहूँगी।"—गिलहरी बोली।

सिद्धार्थ के हृदय में एक प्रकाश फैल गया। मन की निर्बलता हवा हो गई, और एक वज्रसंकल्प लिया— **"जनन-मरणयोरदृष्टपारो नाहं कपिलाह्वयं प्रवेष्टा"** —जब तक बोधि प्राप्त कर जन्म-मरण का पार न देख लूं, मैं भी कपिलवस्तु की ओर नहीं लौटूंगा।

और तप निरत होकर एकदिन बोधिलाभ कर सिद्धार्थ ने बुद्धत्व प्राप्त कर ही लिया।



७३

चरित्र वैभव



तथागत बुद्ध ने कहा है—नारी का नैसर्गिक सौन्दर्य है-शील ! इस सौन्दर्य को दरिद्रता मलिन नहीं कर सकती, बुढ़ापा चुरा नहीं सकता और दुष्टता इसे दूषित नहीं कर सकती।

भारतीय नारी के शील की गाथा विश्व साहित्य के कण-कण में उसी प्रकार रमी हुई है, जैसे ईख के पोर-पोर में मधुर रस।

कन्नड़ के महाकवि वल्लत्तोल्ल ने वादशाह हुमायूं के युग की एक भारतीय ललना के शील सौरभ के साथ हुमायूं के चरित्र वैभव की एक लघु कथा लिखी है—

मुगल सम्राट हुमायूं एक वार दिल्ली के राजपथ से गुजर रहा था कि किसी छोटे से घर की गोख में बैठी एक सुन्दरी पर वादशाह की दृष्टि पहुँच गई। सुन्दरी के सहज, स्निग्ध सौन्दर्य पर वादशाह मुग्ध हुआ कुछ देर एकटक

देखता रहा, और फिर आगे चला गया।

बादशाह का दरबारी नौकर था—उस्मान। उसने बादशाह की प्रेम-मुग्ध-नजर पहचानी, और सोचा "यदि इस स्त्री को बादशाह के महलों में पहुँचा दूं तो बस, बादशाह प्रसन्न हो जायेंगे और मेरी तकदीर खुल जायेगी।" दुष्ट उस्मान ने छल-कपट करके उस कुलीन हिन्दू रमणी को एकदिन अपने चंगुल में फंसा लिया।

वह स्त्री डरी-सहमी, भय से कांपती उदास हुई उसके घर में बैठी थी। उस्मान ने उसे खुश करने के लिए कहा—"मैं तुम्हारे दिव्य सौन्दर्य का मूल्य कराना चाहता हूँ, अब तुम किसी टूटी-फूटी झोंपड़ी में नहीं, किंतु शाहंशाह हुमायूं के राजमहल में आनन्द करोगी। कल तुम भारत की साम्राज्ञी बनोगी और मैं उस वक्त तुम्हारा प्रधानमंत्री रहूँगा—

"एन्नालि तोर्कणम, मूटल मङ्गान्नौरू"।

मूर्ख उस्मान के दिवास्वप्नों पर कुलीन रमणी ने घृणापूर्वक थूक दिया। रात्रि के समय बादशाह महलों में अकेला टहल रहा था, तभी उस्मान आँसुओं से भीगी उस सुन्दरी को बादशाह के सामने ले आया। क्षण भर जैसे बिजली चमक गई हो, बादशाह चकित हुआ उस दैवी सौन्दर्य को देखता रहा।

बादशाह की प्रेम-पिपासु आँखें और [illegible] हुआ चेहरा देखकर उस्मान का दिल बल्लियों उछलने लगा।

उसे पूरा विश्वास हो गया, वस अव उसे प्रधानमंत्री वनने में तनिक भी देर नहीं होगी।

वादशाह ने उस स्त्री से पूछा—"तो, तुम्हें हमारी बेगम बनना मंजूर है ?"

नारी ने मुंह फेर कर कहा–"मैं एक विवाहित हिन्दू नारी हूँ, मेरे लिए मेरा पति ही वादशाह है, वही मेरा भगवान है। आप के इस बदमाश नौकर ने धोखा देकर जबर्दस्ती मुझे यहाँ उपस्थित किया है !"

सुनते ही वादशाह की भृकुटियां तन गईं–"उस्मान ! तुम ने एक वादशाह को शैतान समझ लिया? एक विवाहित हिन्दू नारी का धर्म नष्ट कर हमें भी अपने राजधर्म से भ्रष्ट करने का यह दुःसाहस किया तुमने !"

उस्मान काँप उठा। वादशाह ने रक्षकों के वुलाया और आज्ञा दी–"इस गद्दार और प्रजाद्रोही को डालदो जेलखाने में।" फिर उस स्त्री की ओर मुड़कर नम्रस्वर में वोला–"देवि ! क्षमा करना ! हमारे एक नालायक नौकर ने आपको वहुत तकलीफ दी। यदि आप कुमारी होती और हमें अपना पति स्वीकार करती तो हम अपने को भाग्यशाली समझते। पर, आप तो किसी की अमानत हैं। हम वाइज्जत आपको अपने घर पहुँचा देते हैं।"

स्त्री का मुख मंडल प्रसन्नता से खिल उठा। उसने नीची आँखें झुकाए ही हाथ जोड़े–"जहाँपनाह ! आप प्रजा के पिता हैं। मुझ पर आपने इतनी कृपा की है तो

अब एक कृपा और कीजिए !"

बादशाह विस्मय और उदारता के साथ बोला–"कहिए ! आप क्या चाहती हैं।"

"यही कि इस भृत्य का अपराध माफ कर दीजिए।" नारी ने सहजभाव से कहा।

हुमायूं के मुंह से बरबस 'वाह ! वाह !' निकल पड़ा। उसने मन-ही-मन उस देवी को प्रणाम किया, फिर आभूषणों से सजाकर विदा देते हुए कहा–"तुम ने अपने धर्म कीं ही नहीं, किंतु हमारे धर्म की भी रक्षा की है और एक गरीब जान की भी !"



